* ओ३म् *

श्रीकृष्ण-चरित्र

मूल लेखक—देशभक्त लाला लाजपतराय।

अनुवादक—पं० रामप्यारे त्रिपाठी।

प्रकाशक—

चौधरी एण्ड सन्स,

बुक्सेलर्स एण्ड पब्लिसर्स, बनारस सिटी

गंगाप्रसाद खत्री द्वारा—

वाणिज्य प्रेस, नीचीबाग, बनारस में छपा।

प्रथमवार] १९२७ [मूल्य १)

भूमिका

संसार में ऐसी कौनसी जाति है जिसने वीरों को देवता तुल्य वंदना न की हो और जिन्हें सृष्टि एक साधारण जीवधारी जान कर भी सृष्टि कर्त्ता का उच्चासन (उन्हें) नहीं प्रदान किया है, मनुष्य में यह बात स्वाभाविक है कि वह अपने से श्रेष्ठ शक्ति वा कुशलता की ओर झुकता है और जब वह किसी पुरुष विशेष को अपने अपने से योग्य देखता है और उसकी कुशलता व योग्यता के यथोचित विवेचन करने में अपने को असमर्थ देखता है तथा अपने अन्तःकरण को उसकी महान् शक्ति से आकर्षित पाता है; तो वह स्वतः उस पुरुष विशेष को ऐसा आदि पुरुष विचारने लगता है, जो अपने गुण व लक्षण में एक है और जिसका न कोई उत्पन्न करने वाला है और संहार ही करने वाला है। अन्तर केवल इतना ही है कि शिक्षित और धर्मनिष्ठ जातियां (यद्यपि इनका सत्कार, पूजन के दर्जे से कम नहीं होता) इन पुरुषों में और अनेक उत्पन्न करने वाले परमेश्वर में भेद की सीमा को मिटा नहीं देती परन्तु जो जातियां विद्या हीन होने के कारण अज्ञानरूपी अंधकार में मग्न है उन्हें इसका ज्ञान व भिन्नता का विचार दृष्टि गोचर रखना किसी प्रकार सम्भव नहीं। ऐसे तो मुख से जो कुछ कहदें और उच्च स्वर से मानव पूजन की निन्दा करें वास्तव में कोई भी इस दोषसे मुक्त नहीं दिखाई देता। इस सृष्टि की समस्त जातियां येन केन प्रकारेण मानव पूजक हैं। विश्व की कोई भी विद्या व शिक्षण प्रणाली ऐसी नहीं, जो इस विषय की शिक्षा न देती हों। इसकी पुष्टि करने के लिये उन जातियों के सन्मुख बहुत से दृष्टान्त उपस्थित किये जाते

हैं, जिन्हें इस बात का अभिमान है कि हम केवल एक ईश्वर के उपासक हैं। आंग्लभाषा का सुविख्यात लेखक मि० कारलाइल जिसने कि लालित्यमय शब्द जटित हार पिरोकर अपने पवित्र विचारों के नग जड़े हैं। जिसने शब्दरूपी मोतियों को इस प्रकार लालित्यरूपी सम्बन्ध में संगठित किया है कि यह पृथ्वी के तह में से खींदे हुए हीरे व लालों से अधिक मूल्यवान और प्रकाशवान् प्रकट होते हैं। अपने इस प्रसिद्ध ग्रन्थ "Heso Worship" में लिखता है कि "संसार के महापुरुष वास्तव में उस महान् अग्नि की एक चिनगारी के सदृश हैं जिसके प्रकाश से यह संसार प्रकाशमान है, और जिसके ताप से खनिज, उद्भिज तथा मनुष्य, पशु आदि सम्पूर्ण संसार स्थित है। जिसकी ज्वाला मानों दया की वर्षा है और जिसकी ठंडक मानों हृदय में उमंग उत्तेजन और आकर्षण उत्पन्न करने वाली है।

२ वैदिक महापुरुष।

उन्नीसवीं शताब्दि के इस अंग्रेजी विद्वान् ने जो विचार इस पुस्तक में प्रकट किये हैं, वह लाखों वर्ष आर्य्यावर्त्त में आर्य ऋषियों द्वारा उनकी निज पुस्तकों में प्रकाशित हो चुके हैं—संस्कृत भाषा के प्राचीन ग्रन्थों में "अग्नि" शब्द का प्रयोग (जिसका प्रयोग वैदिक ग्रन्थों में अद्वैत परमात्मा के लिये हुआ है) विद्वान् ऋषी, मुनि, प्राप्त पुरुषों और महात्माओं के लिये हुआ है। यह विचार ऐसा प्रचलित है कि मानों प्रत्येक भाषा और प्रत्येक देशवासी इसी रंग में रंगा है। संस्कृत भाषा में देव और या देवता ईश्वर बोधक है। परन्तु महान् पुरुषों के लिये भी यह शब्द प्रयोग में लाया जाता है। आङ्गलभाषा में गौड का अर्थ परमेश्वर है। परन्तु उसी गौड का बहुवचन

'गॉड्स' देवताओं के लिये आता है। मुसलमान मतावलम्बी हज़रत मुहम्मद को नूरे इलाही कहते हैं। उधर ईसाई हज़रत ईसा को 'खुदा का बेटा' मानते हैं। बोद्धमतावलम्बी महात्मा बुद्ध को 'लार्ड' कहकर पुकारते हैं। इसी प्रकार आर्य लोग श्रीराम तथा श्रीकृष्ण को अवतार कहते हैं। आर्यों में आप्त पुरुष, ऋषी मुनी, और के आदर और पूजन का व्यवहार वैदिक काल से चला आता है। वेद मन्त्रों में स्थान २ पर धर्मात्मा और आप्त पुरुषों का सत्कार तथा उनकी पूजा को एक प्रधान कर्त्तव्य कहा है और प्रत्येक यज्ञ और उत्सवों पर इसका करना आवश्यक समझा है। ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद तथा अन्य आर्य ग्रन्थों में इस विषय की पूरी २ विवेचना की की गई है। पर किसी वैदिक ग्रन्थ में किसी महात्मा व आप्त पुरुष को परमात्मा का पद नहीं दिया है।

अवतारों की यथार्थता।

आर्यावर्त में सबसे पहले बौद्धधर्मावलम्बियों की शिक्षा से लोगों को परमात्मा के होने व न होने में महान शंका उत्पन्न हुई। और इस पवित्र भूमि के रहनेवाले परमात्मा की उपासना से गिरकर मानव पूजन के अंधकारमय जाल में फंस गये। उपासना की यह बिधि जनसाधारण में ऐसी प्रचलित हुई कि वैदिक धर्म के उपदेश देने वालों ने भी बौद्धधर्मानुयायी बनना अपने लिये लाभदायक समझा ब्राह्मणों ने महात्मा बुद्ध के स्थान में श्रीरामचन्द्र तथा श्रीकृष्ण को अवतारों की पदवी दी। धीरे २ यह भाव इतना प्रबल रूप धारण कर लिया कि कुछ समय के पश्चात् पौराणिक भाषा के सम्पूर्ण ग्रंथों में इसी की चर्चा देख पड़ने लगी और चारों ओर से अवतार ही अवतार प्रगट होने लगे। कवियों ने जो महान् पुरुषों के जीवन लिखने में अपने उच्चतम भावों को प्रगट किया था और खगोल

विद्या को पढ़कर सब प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन कर काव्य रचना में जो समय व्यय किया था, उन कवियों के परिश्रम और संस्कृत विद्या को पौराणिक काल के धार्मिक पुस्तक के लेखकों ने समयानुकूल परिवर्तन कर दिया।

बस फिर क्या था विद्या तथा धर्म के तत्ववेत्ताओं ने इस चाल को ऐसे रूप में परिणत कर दिया कि लोक परलोक के प्रायः समस्त सिद्धान्त, अच्छे हों या बुरे, ईश्वर-कृत कार्यों में सम्मिलित कर लिये गये और जनसाधारण को, कारण और कर्त्ता में भेद भाव का विचार न रहा। महान् पुरुषों के जीवन चरित्र इस साँचे में ढाले गये, कि दूसरी दूसरी जाति वाले उनको मिथ्या, बनावटी और अपवित्र समझने लगे।

४ श्रीकृष्ण।

कवियों के अति प्रेम के उमंग, मानसिक विचारों की चंचलता और विश्वास की निर्बलता ने जो अपमान और अन्याय श्रीकृष्ण महाराज पर किया है उसका दूसरा दृष्टान्त किसी भी भाषा में दृष्टिगोचर नहीं होता। यद्यपि श्रीतुलसीदास जी ने अपनी अपार भक्ति के तरंग में श्रीरामचन्द्रजी पर भी वैसे ही आक्षेप किये थे, परन्तु इन्होंने उनको उस श्रेणी तक नहीं पहुँचाया है जहाँ तक पौराणिक साहित्यकारों ने श्रीकृष्ण जी को पहुँचा दिया है। इसका कारण यही मालूम पड़ता है कि रामचन्द्रजी को श्रीकृष्ण के तुल्य उपदेशक की उपाधि नहीं दी गई। श्रीरामचन्द्र को उनकी विमाता कैकेयी ने अपनी ईर्ष्या और द्वेष से बनवास दिया। इसलिये कवियों ने भी पितृभक्ति और भ्रातृस्नेह का मुकुट उनके शीश पर रख दिया। परन्तु यह मुकुट उसके मस्तक पर और अधिक शोभायमान होता जो हरएक प्रकार से धार्मिक जीवन का आदर्श होता अर्थात् शेष वस्त्र भी ऐसे उपयुक्त होने चाहियें जिससे मुकुट की सौंदर्यता-

अच्छी प्रकार से प्रकाशित हो, श्रीराम का धार्मिक जीवन यद्यपि एक आदर्श स्वरूप है परन्तु इनके और श्रीकृष्ण के धार्मिक जीवन में बहुत अन्तर है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण सच्चे प्रेम, रसिकता और बीरत्व में आदर्श माने जाते हैं उसी प्रकार सच्चे धर्मोपदेशक भी थे। उनका जन्म ऐसे काल में हुआ था जब कि वैधिक धर्म का बेड़ा मिथ्या वैराग्य और Philosophy के भ्रमर में चक्कर खाता हुआ एक ओर बहा जाता था, धर्म अपने, धर्म का यथोचित स्थान से अधःपतन हो चुका था, कभी मिथ्या वैराग्य और कभी शुष्क भ्रांतिमय फिलासफी था पलड़ा भारी हो जाता था। इनको ऐसे समय में धर्मोपदेश करना पड़ा था; इनका जीवन धर्मोपदेशक का एक उच्चतम आदर्श है और इसलिये हम देखते हैं कि भारतवर्ष में कदाचित एक भी पुरुष ऐसा नहीं होगा जिसपर श्रीकृष्ण की शिक्षा पर उपदेश का कुछ न कुछ प्रभाव न पड़ता हो सबही श्रीकृष्ण का नाम एक स्वर से उच्चारण करते हैं और उनके उपदेशों का प्रमाण रूप में मानते हैं। हमारा यह कथन अत्युक्ति न होगा कि भारत का धार्मिक मेघमण्डल इस समय भी श्रीकृष्ण के धर्मोपदेशों से प्रकाशमय दृष्टिगोचर हो रहा है।

९ बीस वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण के विषय में लोग क्या बिचारते थे।

अभी बीस वर्ष भी नहीं व्यतीत हुए जब हम सरकारी पाठशालाओं में शिक्षा पाते थे उस समय श्रीकृष्ण उन सम्पूर्ण अपवित्र कार्यो के कर्त्ता माने जाते थे जो कृष्णलीला या रामलीला में दिखलाया जाता है। उस समय श्रीकृष्ण हमारी दृष्टि में तमाशबीन, विषयी और धूर्त दीख पड़ते थे और हम बिचारते थे, भारतवासी मात्र की सामाजिक निर्बलता इन्हीं की अश्लील शिक्षा का फल है। आर्य धर्म के विपक्षियों ने श्रीकृष्ण विषयक ऐसी २ गप्पें उड़ा रखी थीं कि हमारे

हृदय में उनके प्रति सम्मान के भाव उत्पन्न होना तो दूर रहा हम उनके नाम से दूसरों के सामने अपने को लज्जित विचारने लगते थे और भीतर ही भीतर उस पवित्रात्मा के नाम से घृणा करने लग गये थे। परन्तु जब पाठशाला से छुट्टी मिली और मुल्लाओं के पंजे से जान बची तो संकीर्ण अंधकारमय कोठरी से निकल कर प्रकाशमय क्षेत्र में आये और वहाँ ज्ञान-रूपी वायु के झकोरों से मस्तिष्क में एक प्रकार का विलक्षण परिवर्त्तन सा होने लगा।

६ मानसिक भावों में परिवर्त्तन।

इस संकीर्णता से निकलकर वाह्य क्षेत्र में पदार्पण करते ही मानसिक शक्तियाँ कुछ ऐसी विस्तृत हुईं कि वे गूढ़ विषयों की ओर प्रवृत्त होने लगीं और शीघ्रही मेरे कान में भनक पड़ी कि, हैं? एक ओर तो श्रीकृष्ण के नाम के साथ ऐसी अश्लील बातें सम्बद्ध की जाती हैं, उधर उन्हीं को उस विश्वविख्यात ग्रंथ 'गीता' रचयिता कहा जाता है। यह पुस्तक अपने विषय की गूढ़ता, सच्चे उपदेश, भाषा की सरलता, भक्ति और प्रेम में संसार के मनुष्य कृत ग्रन्थों में अद्वितीय है और जिसकी अलौकिक लेख प्रणाली अपना आदर्श स्वतः कही जा सकती है। कानों में ये शब्द गुञ्जायमान हुए ही थे कि साथही किसी ने उत्तर दिया, कि जो नीति और आध्यात्मिक विद्या का ऐसा उपदेशक हो वह ऐसा तमाशबीन विषयी और धूर्त नहीं हो सकता जैसा की कृष्णलीला में दिखलाया जाता है। हमारे हृदय में अभी इस भाव का अंकुर मात्र ही था और अच्छी प्रकार जड़ नहीं पकड़ सका था कि एक दूसरी भनक सुनाई दी और वह यह थी कि, श्रीकृष्ण चन्द्र पर विषयी होने का जो लाञ्छन आरोपित किया जाता है वह केवल कवियों के हस्ताक्षेप के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इनको किसी प्रकार

वास्तविक घटना नहीं कहा जा सकता। फिर इनके अंतर्गत ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिससे सिद्ध होता है कि इन लोगों (कवियों) ने अपनी इच्छानुकूल उन्हें अपना लक्ष्य बना लिया है। निदान ये भाव ऐसे दृढ़ होते गये कि कतिपय समय पश्चात् उनके हृदय पर श्रीकृष्ण की बुद्धिमता और नीति ने अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया।

अब वह समय आ गया है कि कोई भी शिक्षित मंडली इस बात पर विश्वास नहीं करेगी कि श्री कृष्ण के आचरण वास्तव में वैसे ही थे जैसा कृष्ण लीला में दिखलाते हैं। धार्मिक विषयों में चाहे कितना ही आपस में विरोध हो पर शिक्षित मंडली में अब एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं रहा जो उनके नाम के साथ उन निर्लज्ज घटनाओं को मिश्रित समझता हो, अशिक्षित मंडली अब तक उनके माथे मढ़ती है। प्राचीन फैशन के पौराणिक धर्मावलम्बी भी इस प्रयत्न में है कि श्रीमद्भागवत में से प्रेम और भक्ति का निचोड़ निकालें और उससे यह सिद्ध करा लें कि उनकी मोटी बातों की तह में पवित्र प्रेम और अमृत रूपी भक्ति के अमूल्य रत्न दबे पड़े हैं। एवं विधिना प्रत्येक पुरुष इस अनुसन्धान के लिये प्रयत्न करता है कि उसकी तह से अमूल्य रत्न ढूंढ़ निकाले और उस महात्मा के जीवन घटनाओं को इधर उधर से एकत्रित करके जीवन चरित्र के रूप में प्रकाशित करे। यह बात सिद्ध है कि पूर्व समय में जीवन चरित्र लिखने की शैली न थी इस प्रकार से से श्री कृष्ण का कोई जीवन वृतान्त हमारे साहित्य में नहीं पाया जाता। इसलिये उनके जीवन की कहानी क्रमानुसार लिखना मानो उन कवियों के हस्ताक्षेप और अन्ध विश्वासों के संग्रह से उन वास्तविक घटनाओं का निचोड़ उधृत कर प्रथक करता है जिनको हम युक्ति संगत कह सकें और जिनके

क्रमानुसार संग्रह को हम जीवन चरित्र का स्थान दे सकें।

७ पुराणों की प्राचीनता।

श्रीकृष्ण के नाम से जन साधारण में जितनी घटनायें प्रचलित हैं उन सब के कारण पुराण हैं और हिन्दू धर्म ने इन्हें उनके प्रमाण पर सच्चा मान लिया है अतएव प्रथम यह अनुसन्धान करना उचित होगा कि इन पुराणों को ऐतिहासिक होने का गौरव प्राप्त है या उनके लेख कहाँ तक विश्वसनीय हैं।

(अ) प्राचीन आर्यजाति ऐतिहासिक विद्या से अनभिज्ञ न थी।

परन्तु अपनी सम्मति स्पष्ट रूप से प्रकट करने के पूर्व हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि हम इस बात के मानने वाले नहीं हैं कि प्राचीन काल में यद्यपि आर्यजाति विद्या सभ्यता और दर्शनशास्त्र में सर्व श्रेष्ठ मानी जाती थी और सब शिल्प विद्यादि का वर्णन संस्कृत के साहित्य में अब तक विद्यमान है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी ऐतिहासिक विद्या से पूर्णतया अनिभिज्ञ थी और उसमें न इतिहास पढ़ने की रुचि थी और न लिखने की परिपाटी थी।

वास्तव में तो संस्कृत साहित्य की वर्तमान दशा देख कर हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन आर्यगण अमुक २ विद्या और शास्त्र में निपुण थे पर निर्णय के साथ यह नहीं कह सकते कि वे उनके अतिरिक्त अमुक २ विद्या और शास्त्र में निपुण थे पर निर्णय के साथ यह नहीं कह सकते कि वे उनके अतिरिक्त अमुक विद्या से सर्वतया अनिभिज्ञ थे। प्राचीन आर्य सभ्यता को इतना समय व्यतीत हो गया कि उसका यथार्थ अनुमान करना असम्भव ही नहीं कठिन भी है। फिर इतने ही समाया-

न्तर में यहाँ बहुत से परिवर्तन हुए हैं अतएव किसी विद्या विशेष के ग्रंथों को न प्राप्त होने से यह परिणाम निकाल लेना किप्राचीन समय के आर्य लोग उक्त विद्या से अनभिज्ञ थे,युक्ति संगत नहीं। परमेश्वर जाने कितने अमूल्य रत्न प्राचीन भवनों के भग्नावशेष में दबे पड़े हैं और कितने तो पृथ्वी में ऐसे लीन होगये हैं कि अब उनका टूटी फूटी हालत में दर्शन होना दुर्लभ सर होगया है और कदाचित अभी अधिकतर ऐसे हैं जो ब्राह्मणों के बेष्टनो में पड़े सड़ रहे हैं। उन बेचारों को यह भी पता नहीं कि इन केट पुराने जीर्ण ग्रन्थों में कैसे उच्चतम भाव पड़े नष्ट होरहे हैं जिनके जानने के लिये आधुनिक शिक्षित समुदाय लाखों द्रव्य व्यय करने के लिये उद्यत हैं। प्राचीन आर्यसभ्यता के विषय में अनुसन्धान आरम्भ हो गया है और लोग इन सारे रत्नों को खोदकर निकाल रहे हैं। ऐसी अवस्था में निर्णय रूप से यह कहना असम्भव सा प्रतीत होता है कि प्राचीन आर्यजाति अमुक विद्या से अनभिज्ञ थी इसलिये हम पुनः यही कहते हैं कि वर्तमान साहित्य को देख कर यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि प्राचीन आर्य इतिहास विद्या से अनभिज्ञ थे। हमारे साहित्य में अभी ऐसे प्रमाण हैं जिससे यह परिणाम निकाल सकते हैं कि प्राचीनकाल में इतिहास का पढ़ना व लिखना विशेषतया गौरव की दृष्टि से देखा जाता था और विद्याप्रेमियों की एक विशेष मंडली का यही कार्य था कि राजाओं और महाराजाओं के दरबार में प्राचीन कथाओं को सुनाया करें।

प्राचीन ग्रन्थों में जैसे जैसे उपनिषद, रामायण, महाभारत और पौराणिक काल के साहित्य इत्यादि में इस विषय के अनेकानेक प्रमाण उपस्थित हैं जो वैदिक साहित्य में जहाँ जहाँ भिन्न २ विद्याओं और शास्त्रों का वर्णन किया है वहाँ २ पुराण

तथा इतिहास का शब्द भी मिलता है इससे यह सिद्ध है कि उस समय में पुराण और इतिहास एस एक पृथक २ Litera- ture का नाम था जिसे आजकल ऐतिहासिक Literature कहते हैं। प्रमाणार्थ यहाँ हम कुछ उद्घृत करते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद में जो दश उपनिषदों के अन्तर्गत है और उसको श्री स्वामी शंकराचार्य व श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा अन्य विद्वानों ने प्राचीन माना है, एक स्थान पर भिन्न विद्याओं का वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखा है।

सतोवाच।

ऋग्वेद भगवोऽध्येमि यजुर्वेद सामवेदमाथवर्णञ्चतुर्थ मितिहास पुराणं पञ्चम्।

(१) अर्थात् भगवन्! ऋग यजुः साम और अथर्व को जानता हूँ और इसके अतिरिक्त इतिहास और पुराण से भी विज्ञ हूँ।

(२) एक स्थान पर शतपथ ब्राह्मण (१४-६-१०-६) में कहा गया है—

ऋग्बेदो यजुर्वेदो सामभेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोका सूत्रारायनु व्याख्यानानि व्याख्यातानि ॥

अर्थ—ऋग्, भजु, साम अन्यवेद इतिहास पुराणं विद्या उपनिषद सूत्र, श्लोक और उनके व्याख्यानादि।

(३) तैतिरीय आरययक में दूसरे आरयय के नवें श्लोक में लिखा है—

ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्यान् गाथानारांशसीः।

अर्थात्—वेद इतिहास पुराण गाथादि।

(४) इसी प्रकार मनुस्मृति के तीसरे अध्याय के २३२ वें श्लोक में भी व्याख्यान इतिहास और पुराण शब्द अनेकों स्थानों

पर मिलते हैं। रामायण, महाभारत और पुराणों के पठनपाठन से यह मालूम होता है कि प्राचीन समय में इतिहास वेत्ताओं और इतिहास लेखकों के अतिरिक्त एक ऐसी मण्डली होती थी जिनका कर्तव्य यही होता था कि वे राजदरबार में प्राचीन घटनाओं, राजों, महाराजों तथा वीर योद्धाओं के चरित्र सुनाया करें। महाभारत में जगह २ पर यह लिखा पाया जाता है कि सूत महाराज ने अमुक २ वृतान्त का वर्णन किया।

(५) संस्कृत कोष का प्रसिद्ध प्रणेता अमरसिंह पुराण शब्द की व्याख्या करता हुआ लिखता है कि पुराण के पाँच लक्षण हैं। या यों कहिये कि पुराणों में पाँच प्रकार के विषय होते हैं।

सर्गश्चप्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंसस्तु चरितञ्चैव पुराणं पंचलक्षणम्।

अर्थात् सृष्टि के उप्तत्तिका वर्णन ! सृष्टि विशेष का वृतांत प्रसिद्ध वंशजों का इतिहास, भिन्न २ समय का वर्णन और महापुरुषों के जीवनचरित्र।

(६) विष्णुपुराण के तीसरे खण्ड के छठे अध्याय के सोलहवें श्लोक में इतिहास को चार भागों में विभक्त किया है।

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथभिः। कल्पसिद्धिभिः। पुराणं संहिताञ्चक्रे पुराणार्थ विशारद।

अथर्वेद वक्ता व्यास ने एक पुराण संहिता लिखी है, जिसमें चार प्रकार के विषय हैं अर्थात् १ आख्यान २ उपाख्यान ३ गाथा ४ कल्पसिद्धि।

(१) निज नेत्रों से देखी हुई घटना के वर्णन करने को आख्यान कहते हैं।

(२) किसी घटना को अन्य पुरुष से सुनकर पुस्तक रूप में लिखने को उपाख्यान कहते हैं।

(३) प्राचीन महात्मा पुरुषों के विषय में जो गान गाये जाते हैं उनके संग्रह को गाथा कहते हैं।

(४) कल्पसिद्धि उस परिपाटी से तात्पर्य है जो श्राद्ध करते समय कार्य रूप में लाई जाती है।

उपरोक्त प्रमाणों के विद्यमान होते हुए हुए निश्चित रूप से यह कहना कि प्राचीन आर्यलोग इतिहास से अनभिज्ञ थे और उनके समय में इतिहास लेखकों का किञ्चिदपि आदर न था, यह मानने के लिये हम कदापि तैयार नहीं। हम ऊपर कह आये हैं कि समय का परिवर्त्तन से यदि संस्कृत भाषा में किसी शास्त्र विशेष का लोप हो गया हो तो उससे यह परिणाम निकालना कि उस भाषा में उस शास्त्र का कभी अस्तित्व भी नहीं था सर्व था मिथ्या है। हमारे पास प्रश्न के लिये यथेष्ट प्रमाण हैं जैसे प्राचीन साहित्य की पुस्तकों का कुछ पता नहीं आर्यों के धर्म (पुस्तकों अर्थात् ब्राह्मण सूत्र और स्मृतियां) भी समय के ग्रास से सुरक्षित नहीं रही है, ऐसी अवस्था में पुराणों और इतिहासों का लोप हो जाना और वर्तमान समय में मिलना कुछ आश्चर्य जनक नहीं। अतएव हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि प्राचीन आर्यों के समय में इतिहास और जीवन चरित्र विद्यमान थे और उनको इतिहास और गाथा कहते थे। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जो पुस्तकें वर्तमान समय में संस्कृत में पुराणों के नाम से प्रसिद्ध हैं उन्हें ऐतिहासिक गौरव प्राप्त है या नहीं? यदि नहीं तो कारण क्या है?

(आ) पुराणों का ऐतिहासिक गौरव।

हम बिना संकोच के यह कहने को उद्यत हैं कि वर्तमान पुराणों को ऐतिहासिक गौरव प्राप्त नहीं है। स्वयं उन्हीं पुराणों में इस बात का प्रमाण मिलता है कि वह प्राचीन

Literature के पुराण और इतिहास नहीं हैं परन्तु आर्य जाति के समय में लिखे गये हैं और उनमें से अधिकतर तो उस समय लिखे गये हैं जब आर्य जाति अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता को खो बैठी थी और अपने धर्म कर्म को नष्ट करके 'हिन्दू' के कलंकित नाम से पुकारी जाती थी, जब कि उसको अपने आपको, अपने धर्म का, अपनी मान मर्यादा तथा अपनी स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा के हेतु अपने प्राचीन आचार व्यवहारों को छोड़ना पड़ा जिससे उनका प्राचीन धर्म कर्म ऐसा दब गया कि उसके चिन्ह भी शेष न रहते, यदि अंग्रेजी राज्य के आगमन के साथ उस पर प्रकाश की आभा न पड़ती और उसके ऊपर से कूड़ा करकर उठा देने का उन्हें (आर्य जाति को) अवसर न मिलता।

प्रत्येक सुशिक्षित आर्य जानता है कि पुराण १८ हैं परन्तु इनके अतिरिक्त बहुत सी ऐसी पुस्तकें है जो उपपुराणों के नाम से प्रसिद्ध है, जो ऐसे किस्से कहानियों से भरी है कि कोई मनुष्य भी उन्हें पढ़कर सत्य का वास्तविक नहीं कह सकता। उनका अधिकांश भाग तो ऐसी बातों से भरा है जो बुद्धि और प्रकृति दोनों के विरुद्ध हैं और उनका अनुमान होना भी असम्भव है।

अंग्रेज तथा आर्य विद्वानों ने सहमत होकर यह व्यवस्था दी है कि वर्तमान पुराण वह पुराण नहीं जिनका वर्णन उपनियमों वा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है। उन अंग्रेजी पुराण तत्ववेत्ताओं ने वर्त्तमान पुराणों का समनिरूपण किया है जिसके मानने से कदापि यह परिणाम नहीं निकलता कि वर्तमान काल में से कोई भी विक्रम संवत् के बहुत पश्चात् के हैं। इनमें से बहुत पुराणों का समय तो १७ वीं या १५ वीं शताब्दि तक निश्चय किया है। इसके अतिरिक्त पुराणों में

बहुत से ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि प्राचीन पुराण तो लुप्त हो गये हैं और आधुनिक पुराण प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि प्राचीन पुराण तो लुप्त हो गये हैं और आधुनिक पुराण वर्तमान समय में रचे गये हैं।

(१) मत्स्य पुराण में ब्रह्मवैवर्तपुराण का वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखा है—

अर्थ—"वह पुराण जिसको सूरनी ने नारद के सन्मुख वर्णन किया और जिसमें श्रीकृष्ण का महत्व रथन्तर कल्प के समाचार और ब्रह्म बराह चरित्र वर्णित हैं अट्ठारह सहस्र श्लोकों में है और उनका नाम ब्रह्मवैवर्त पुराण है।"

अब यदि हम उस पुराण को देखें जो वर्तमान में ब्रह्मवैवर्त पुराण के नाम से प्रसिद्ध है तो हमको मालूम हो जायगा कि इसमें न ब्रह्मवराह का चरित्र है न रथन्तर कल्प के समाचार हैं और न उसमें इस बात का कहीं पता ही लगता है कि इस पुराण को सूरनी ने नारद के सामने वर्णन किया था।

(२) विष्णु पुराण के तीसरे खण्ड के छठे अध्याय में १६ से १९ श्लोक तक इस प्रकार लिखा है वेदव्यास ने (जो पुराणों की विद्या में सिद्ध हस्त थे) एक संहिता बनाई थी जिसमें आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पसिद्धि थी इन्होंने पुराण अपने प्रसिद्ध शिष्य लोमहर्षण को दे दिया। सूत लोमहर्षण के छ शिष्य हुए सोमती, अग्निवर्त, मित्रायु, सनस्पानिया, अकृत वरन और सूरनी। इनमें से कश्यप, सूरनी और सनस्पानिया ने एक २ पुराण संहिता लिखी परन्तु सबका मूल वही संहिता थी जिसका नाम लोमहर्षण था और जिसको लोमहर्षण ने रचा था।

(३) अग्नि पुराण में यही लिखा है—

अर्थ—लोमहर्षण सूत रचयिता ने व्यास से पुराण प्राप्त

किया और सूरनी उसके शिष्य हुए और सनस्पानिया और अन्य शिष्यों ने पुराण संहिताओं को रचा।

(४) इसका समर्थन भागवत पुराण के दसवें स्कन्ध के तीसरे अध्यायके श्लोकों से होती है।

अर्थ—आरुणी! कश्यप, सूरनी, अकृत वरन, सनस्पानियां और हतमेय ये छ, पौराणिक थे। उन्होंने मेरे पिता से पुराण सीखे जो स्वयं व्यास के शिष्य थे। और वास्तविक पुराण पुराण संहिता का अध्ययन करके उन्होंने एक २ पुराण रचा।

(५) भागवत के बारहवें स्कन्ध के सातवें अध्याय के पाचवें श्लोक पर टीका करते हुए पं० श्रीधर यह लिखते हैं—

अर्थ—प्रथम व्यास ने संहिता लिखी और मेरे पिता लोम हर्षण को सिखाया उनसे आरुणी और दूसरों ने एक संहिता पढ़ी और उनका शिष्य मैं हूँ।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वर्त्तमान पुराणों के रचयिता के विचार में वेद व्यास की लिखी हुई पुराण संहिता वास्तव में एक ही थीं और फिर उससे छः संहिता हुई। वे छः संहिता कौन २ थी और फिर वे क्या हुई इसका कुछ भी पता नहीं है। मि० रमेश चन्द्रदत्त, प्रोफेसर मैक्समूलर तथा अन्य युरोपियन पुरातत्व वेत्तागण भी इस विषय में सहमत हैं कि प्राचीन पुराणों का कुछ पता नहीं चलया और वे सब लुप्त हो गये। हमको ऐसा प्रतीत होता है कि व्यास जी रचित पुराण संहिता (यदि वास्तव में व्यास जी ने कोई इस नाम की पुस्तक रची थी) तो वह बौद्धों के समय में नष्ट हो गई और पौराणिक काल में दन्त कथाओं अथवा अन्य लेख प्रमाणों के आधार पर सामयिक पुराणों की रचना हुई और उस समय से आज पर्य्यन्त इनमें सर्वदा एक न एक काटछांट होती चली आई है और समयान्तर पर कुछ

विद्वत् मंडली ने अपने वाक्य चातुर्य्य वा बुद्धि का परिचय देने के हेतु टिप्पणी के तौर पर नवीन नवीन श्लोकों का समावेश करते रहे हैं। इन पंडितों के वंशजों ने अपना यह कर्त्तव्य समझा कि पुराणों पर कुछ न कुछ अपनी बुद्धि लड़ावें और दासत्व समय के दुर्विचारों को सम्मिलित करके उनको एक अनोखी खिचड़ी बनायी। यहाँ तक कि वर्त्तमान पौराणिक साहित्य भिन्न २ प्रसंगों का एक ऐसा संग्रह बन गया है कि उसमें से वास्तविक तथा कल्पित रचनाओं का पृथक् करना कठिन ही नहीं वरन असम्भव सा प्रतीत होने लगा है। सम्भव है कि इस संग्रह में सच्ची घटनाएँ और उत्तम विचारों के मोती दबे पड़े हों।

परन्तु इस समय भी उनकी अवस्था ऐसी शोचनीय हो रही है कि उनमें से क्रमानुसार किसी घटना को निकालना कठिन हो जाता है। प्राचीन आर्य सभ्यता का विद्यार्थी जिसने उपनिषदों की अद्वितीय विद्या तथा दर्शनों की PHILOSOPHY का अध्ययन करके प्राचीन आर्यों की सभ्यता के उत्कर्ष का विचार रखा है वह जब पौराणिक साहित्य तक पहुँचता तो अकस्मात् उसे आश्चर्य होता और उसको यदि आर्यों के नाम से कोई सम्बन्ध होता उसके शरीरमें वही आर्यों का रक्त संचारित होता। जिन्होंने रामायण और महाभारत में प्रसिद्ध पाई थी तो स्वतः उसके नेत्रों से आश्रुओं का प्रवाह हो जाता और वह चिल्ला उठता कि हाय! किस स्थान से कहाँ गिड़ हो गये। वैदिक ऋषियों की सन्तान! जिन्होंने दर्शनों की रचना की थी, उनकी ही सन्तान फिर पुराणों और तंत्र मंत्रों की रचयिता बनी।

कदाचित् आपके हृदय में ये विचार उठते हो कि श्रीकृष्ण के जीवन चरित्र को पौराणिक विषय के वादानुवादों से क्या

प्रयोजन, तो हम यही कहेंगे कि दुर्भाग्यवश श्रीकृष्ण का जीवन वृत्तान्त जो कुछ लोगों पर विदित है, उन सबका आधार पौराणिक साहित्य से है। पुराणों ने जातीयता को नष्ट करके मनुष्य जीवन को निर्धन बनाने और नीति तथा आध्यात्मिकता की पराकाष्ठा से गिराने का जो कार्य किया है वह सबसे अधिक उसी महान् पवित्रात्मा से सम्बन्ध रखता है जिनका संक्षिप्त जीवन चरित्र लेखनार्थ हमने आज अपनी लेखनी उठाई है।

श्रीकृष्ण पर पुराणों ने क्या २ अत्याचार दोषारोपण नहीं किया है। संसार के एक पूज्यात्मा को अपने दुर्भावों के वाणों से ऐसा बेध डाला है कि उसकी सूरत ही बदल गई। इन्हीं पुराणों के कृपा कटाक्ष से अधिकतर आर्य सन्तानों का मनो-भाव श्रीकृष्ण की ओर से फिर गया है। ये उन्हें विषयी और अपवित्र समझने लगे हैं और उसी पौराणिक शिक्षा के कारण अधिकतर आर्यसन्तति शिक्षा ग्रहण कर मुसलमानों और ईसाइयों के जाल में फंस जाते हैं। अनेकों बार अच्छे २ विद्वान् से यह सुना गया है कि इस धर्मभूमि की कुल अवनति और आपदाओं के मूल श्रीकृष्णजी ही हुए हैं जिन्होंने अनी निकृष्ट शिक्षा से महाभारत का युद्ध आरम्भ कराया और देश को नष्ट भ्रष्ट किया। जब हम किसी आर्यसन्तान के मुखारवृन्द से महात्मा कृष्ण के विषय में इस प्रकार अपमानजनक शब्द सुनते हैं तो हमारा हृदय कंपायमान ही जाता है। परन्तु इन विचारे आधुनिक सभ्यता वालों का क्या दोष हैं। पौराणिक गपोड़ों ने इस भांति अज्ञानता के समर में डाल रखा है कि उनके लिये अपने जातीय साहित्य से सत्यअसत्य का पृथक् करना असम्भव है। हमारे इस कहने से यह तात्पर्य नहीं पुराणों में सत्यता है ही नहीं। हमारा मन्तव्य है कि हमारा

जातीय इतिहास कदाचित् पुराणों से कुछ मिल सके। परन्तु उपमा अलंकार तथा भाट लोगों का मनगढ़ंत और प्रत्येक पीढ़ी के पंडितों के स्वेच्छाचार को इस साहित्य में इतना अधिकार है कि उसमें सत्यघटनाओं का निकालना यदि संभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

ऐसे तो प्रायः प्रत्येक पुराण में श्रीकृष्ण के जीवन सम्बन्ध में कुछ न कुछ मसाले अवश्य मिलते हैं परन्तु जिनमें क्रमानुसार या विस्तृत रूप से वर्णित है उनके नाम इस प्रकार हैं।

ब्रह्मवैवर्त, भागवत, विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण और इनके सिवाय हरिवंश नामक पुस्तक में भी श्रीकृष्ण सम्बन्धी बहुत सी बातें मिलती हैं और महाभारत में भी प्रायः श्रीकृष्ण का वर्णन आता है। साधारणतः पुरातत्ववेत्ताओं का यह सिद्धान्त है कि इन सब पुराण और महाभारत सबसे प्राचीन हैं। परन्तु इनके विषय में भी यह निर्णय करना कठिन है कि इनका कौन सा भाग प्राचीन और कौन नवीन है।

प्रोफेसर विल्सन (विष्णु पुराण का अंग्रेजी अनुवादकर्त्ता) का सिद्धान्त है कि विष्णु पुराण में इसके विषय में बहुत से प्रमाण है कि उसमें दसवीं शताब्दि तक के वृतान्त पाये जाते हैं। परन्तु भागवत तथा अन्य पुराणों की अपेक्षा विष्णुपुराण अधिक प्राचीन है। भागवत के विषय में तो यह विवाद चला आता है कि कौन सी भागवत १८ पुराणों में गणना करने योग्य है श्री मद्भागवत या देवी भागवत ? वैष्णव अपने भागवत के असल पुराण बतलाते हैं, और शाक्त अपनी को। परन्तु योरोपीय विद्वानों का मत है कि श्रीमद्भागवत तेरहवीं शताब्दि में लिखी गई है। जो कुछ हो विद्वानों की दृष्टि में भागवत से विष्णु पुराण अधिक प्राचीन है। तथा अलंकार का मिश्रण कम होने से उसकी बातें अधिक विश्वास पात्र मानी जाती है।

इसके अतिरिक्त औरों की अपेक्षा विष्णु पुराण इस योग्य है कि घटनाओं की नींव उसी पर पर रखी जाय। हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त और ब्रह्मपुराण भी विष्णु पुराण से पश्चात् के माने जाते हैं। प्रो० विल्सन का मत है कि ब्रह्म वैवर्त गोकुलियों गोसाइयों की लिखी है और पन्द्रहवी शताब्दि के बाद की लिखी है। अब रहा महाभारत, उसके विषय में याद रखना चाहिये कि वर्त्तमान महाभारत असली महाभारत नहीं है। या यों कहिये कि यह कोई नहीं बता सकता कि आधुनिक महाभारत में कितने श्लोक असली है और कितने मिश्रित। जैसे पुराणों के विषय में साधारणतः लोग कहते हैं कि वे वेद व्यास द्वारा लिखे गये हैं, वैसे हो महाभारत के विषय में भी कहा जाता है। परन्तु जैसा हम ऊपर वर्णन कर आये हैं कि कम से कम वर्त्तमान पुराण व्यास रचित नहीं है उसी प्रकार हमारे पास इसके भी प्रमाण बहुत हैं कि आधुनिक महाभारत का सम्पूर्णांश व्यास जी रचित नहीं है। स्वयं महाभारत के आदि पर्व से विदित है कि व्यासजी ने असल महाभारत लिख कर वैशम्पायन को सुनाया जिसने लोमहर्षण को उसकी शिक्षा दी और जिसको उसके पुत्र उग्रश्रवा ने लिखी। वर्त्तमान महाभारत के पूर्व दो श्लोको में ग्रंथकर्त्ता ने (जो अपना नाम प्रकट नहीं करता) लिखा है कि वह उस महाभारत को लिखता है जो उग्रश्रवा ने कुलपति शौनक के यज्ञ (बारह वर्ष के यज्ञ) में में ऋषियों के सन्मुख सुनाई थी।

आदिपर्व प्रथम अध्याय के आठवें श्लोक से प्रगट है कि स्वयं उग्रश्रवा को भी आठ सहस्त्र श्लोक कंठस्थ थे और उस समय भी यह झगड़ा था कि असल महाभारत किस श्लोक से से आरम्भ होता है।

आदि पर्व में निम्नलिखित श्लोक से प्रगट है कि व्यासजी

ने वास्तव में केवल चौबीस सहस्र श्लोक रचे थे और तत्पश्चात् डेढ़ सौ श्लोक में उन २४ सहस्र का संक्षिप्त वर्णन कर दिया था।

श्लोकार्थः—व्यास ने वास्तव में २४ सहस्र श्लोको में महाभारत की रचना की। विद्वत् मंडली उसी को असली महाभारत कहती है। परन्तु आधुनिक महाभारत में १ लाख ७ हजार ३ सौ ६० श्लोक हैं और २६५८ श्लोकों में तो केवल सूची पत्र लिखा गया है। इससे यह प्रगट है आधुनिक महाभारत में कितने श्लोक बढ़ाये गये हैं और इसी कारण से उसकी ऐतिहासिक प्रमाणता कम हो गई है। बहुत सी हस्तलिखित प्रतियों में तो आदि के अनेकों अध्याय लुप्त हैं जिससे प्रो० मैक्समूलर मि० रमेशचन्द्र दत्त की कविता बद्ध महाभारत की भूमिका से यह परिणाम निकलते हैं कि ये सम्पूर्ण अध्याय पीछे से मिश्रित कर दिये गये हैं। सारांश यह है कि वर्त्तमान महाभारत में बहुत कुछ मिश्रण है। फिर भी श्रीकृष्ण विषयक जो कुछ हम जानना चाहते हैं वह हमको इन्हीं दोनों ग्रन्थों से विदित हो सकता है (१) विष्णुपुराण (२) महाभारत अतएव हमारे देशवासियों का कर्त्तव्य होना चाहिये कि श्रीकृष्ण के चरित्र के जानने के हेतु इन दोनों पुस्तकों का ध्यान पूर्वक मनन करें और पश्चात् निष्पक्ष भाव से अपने विचार स्थिर करें कि इनमें कौन सी कवि की अत्युक्ति है और कौन असली है

(८) असली तथा मिलावट का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है। हम इन सब बातों को मानते हैं कि बौद्धधर्म का अभ्युदय श्रीकृष्ण के पश्चात् हुआ है। हिन्दू श्रीकृष्ण को द्वापर का अवतार मानते हैं और महाभारत युद्ध से कलियुग का आरंभ बताते हैं। यूरोपीय विद्वान श्रीकृष्ण का समय निरूपण हजरत ईसा से हजार वर्ष पूर्व ठहराते हैं। अनुसन्धान द्वारा यह बात

सिद्ध है कि महात्मा बुद्ध का जन्म हजरत मसीह से पाँच सौ वर्ष पूर्व हुआ है, अतएव यह सिद्ध है कि विष्णुपुराण और महाभारत में जहाँ २ बौद्धधर्म के शिक्षा के चिन्ह मिलते हैं वे भाग बौद्धकाल के पश्चात् के हैं। अतः यह विश्वासनीय हो नहीं सकता। इस प्रकार संस्कृत साहित्य के अध्ययन से हमें पता चलता है कि बौद्धधर्म से पूर्व इस देश में मूर्तिपूजा प्रचलित न थी और न मूर्तियों के लिये मंदिर बनाने की चाल थी।

इसके लिये यह कहना युक्ति से बाहर नहीं हो सकता कि महाभारत और विष्णुपुराण को जिन भागों में मूर्तिपूजा और मंदिरों का वर्णन है वे पीछे से मिलाये गये हैं। हम कह सकते हैं कि बौद्धधर्म के पूर्व के साहित्य में ईश्वर के अवतार का कहीं वर्णन नहीं और न उस समय तक हिन्दुओं की त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) के पूजन की प्रथा थी वरन उस समय तक जातीयबन्धन ऐसा प्रबल न था जैसा कुछ काल पश्चात् होगया है। इन बातों का विचार करके विष्णुपुराण तथा महाभारत से कुछ सत्य निकल सकता है। जातिबन्धन के विषय में इतना कह देना पर्याप्त होगा कि स्वयं व्यासजी महाराज जन्म से शूद्र थे जिससे सिद्ध होता है कि उस समय जब व्यास जी ने महाभारत रचा है। जातपांत का अधिक झंझट न था। यदि यह मान लें (और इसके मानने में संकोच भी न होना चाहते थे) तो यह बात हल हो जाती है कि श्रीकृष्ण का जन्म उस समय में हुआ था जब कि देश में वैदिकधर्म पूर्ववत् था। जाति जन्म से नहीं मानी जाती थी और मनुष्यों को परमात्मा की उपाधि नहीं दी जाती थी। अवतारों की उत्पत्ति नहीं हुई थी मूर्तिपूजा का भी नामोनिशान न था और हिंदुओं की त्रिमूर्ति अभी स्थापित न हुई थी। वैदिक कर्मकाण्ड की प्रथा प्रचलित थी, बौद्धधर्म का जन्म नहीं हुआ था, पर फ़िलासफ़ी ने लोगों

का विश्वास निर्बल कर दिया और उन्हें अश्रद्धा होने लग गई थी। इन बातों को सामने रख कर कवि कृत्रिम अलंकारादि का विचार करके यदि हम महाभारत तथा विष्णु पुराण में से कुछ यथार्थ बातें निकालना चाहें तो निष्फलता कदापि संभव नहीं। परन्तु साथ ही याद रखना चाहिये कि येबातें बड़ी कठिनाई तथा अनुसन्धान द्वारा मालूम हो सकती हैं—क्योंकि असल इतिहास का मिलना असंभव है।

उपरोक्त बातों के पश्चात् अब हम यह दिखलायेंगे कि क्या कृष्ण के जीवन काल का निर्णय करना वास्तव में असंभव है अथवा नहीं ?

(४) कृष्ण वा महाभारत का समय। महाभारत के समय का निर्णय करना तनिक कठिन है क्योंकि उस समय का कोई यथाक्रम इतिहास मौजूद नहीं परन्तु इस विषय में अनुसंधान द्वारा जो जो बातें अब तक जानी गई हैं पाठकों के सूचनार्थ लिखते हैं।

(अ) यह बात हिन्दुओं में साधारणतः प्रसिद्ध है कि महाभारत की लड़ाई से कलियुग का आरम्भ हुआ है। और कृष्ण का जन्म द्वापर में हुआ है। कलियुग को आरम्भ हुए लगभग ५००० वर्ष माने जाते हैं। गणितशास्त्र वाले भी कलियुग का आरम्भ ४४९६ वर्ष में निश्चय करते हैं।

(क) 'कश्मीर का इतिहास' राजतरंगिणी का लेखक लिखता है कि कलियुग के ६५३ वें वर्ष में गाड नाम का राजा कश्मीर में वर्तमान था और युधिष्ठिर और कौरव बन में थे, गोड ने लगभग ६५ वर्ष राज्य किया जिससे युधिष्ठिर का समय लगभग २४० वर्ष मसीह से पूर्व स्थिर होता है अर्थात् आज से ४३०० वर्ष होते हैं।

(ख) विष्णु पुराण से मालूम होता है कि युधिष्ठिर का

पोता परीक्षित राजा नन्द से १०१५ वर्ष पहले हुआ है। पहिला नन्द चन्द्र गुप्त से १०० वर्ष पूर्व हुवा चन्द्रगुप्त ने मसीह से ३०१५ वर्ष पहिले राज्य पाया जिससे परीक्षित का समय १४३० वर्ष मसीह से पूर्व स्थिर होता है।

(ग) एक दूसरे स्थान पर विष्णुपुराण, परीक्षित का समय १२०० वर्ष कलियुगी ठहराता है जिससे परीक्षित का काल लगभग १८०० वर्ष मसीह से पूर्व सिद्ध होता है।

(घ) महाभारत के पढ़ने से विदित होता है कि जिस समय महाभारत की लड़ाई हुई थी उस समय सब से छोटा दिन और सब से बड़ी रात माघ के महीने में हुआ करती थी क्योंकि भीष्म पितामह सूर्य्य के (क्रते उस्तवा) दक्षिण में चले जानेपर मृत्यु को प्राप्त हुए परन्तु अब २४ दिसम्बर को सबसे बड़ीरात और सबसे छोटा दिन होताहै। ज्योतिषविद्या के जानने वाले बताते हैं कि इस परिवर्तन को हुए कम से कम ३४२६ वर्ष हुए जिससे यह परिणाम निकलता है कि महाभारत को भी हुये ३४२६ वर्ष से कम नहीं हुए अधिक चाहे कुछ हों।

(च) ज्योतिष विद्या की सहायता से जो यह परिणाम निकलता है उसके विषय में मि० बालगंगाधर तिलक ने "ओरियन" नामक अपने ग्रन्थ में बहुत कुछ तर्क वितर्क के पश्चात् लिखा है कि वह समय जब कि माघ मास में सूर्य्य उत्तरायण में होता था बहुत प्राचीन सिद्ध होता है इसके अतिरिक्त प्राचीन संस्कृत लिट्रेचर में महाभारत के प्रायः (हीरोज़) वीरों का वर्णन आता है जिससे युरोपीय पुरातत्व सिद्ध करते हैं कि महाभारत की असल लड़ाई इन ग्रन्थों के रचे जाने से बहुत पहिले हो चुकी थी।

(१०) प्राचीन संस्कृत लिट्रेचर में कृष्ण तथा अन्य वीरों का वर्णन।

पाणिनि ऋषिकृत अष्टाध्यायी के सूत्रों में युधिष्ठिर और कुन्ती तथा वासुदेव और अर्जुन के नाम आते हैं जैसे आठवें अध्याय के तीसरे पाद के ९५ वें सूत्र में युधिष्ठिर शब्द आया है इसी तरह चौथे अध्याय के पहिले पाद के १७४ वें सूत्र में कुन्ती शब्द का प्रयोग हुआ है फिर इसी अध्याय के तीसरे पद के ४८ वें सूत्र में वासुदेव तथा अर्जुन का नाम आता है।

प्रोफेसर गोल्डस्टकर की सम्मति है, कि पाणिनि मुनि ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों से भी बहुत पहिले, हुए हैं। श्री स्वामी दयानन्द की यही सम्मति है—ब्राह्मण ग्रंथों में से ऐतरेय और शतपथ में परीक्षित और जन्मेजय का वर्णन आया है। जह्मेजय पाण्डवों के प्रपौत्र का नाम था जिसके दरबार में प्रथम महाभारत सुनाई गई इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय आरण्यक में श्रीकृष्ण का नाम आता है छान्दोग्य उपनिषद् में 'देवकी के पुत्र कृष्ण' का वर्णन है आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी महाभारत के युद्ध का वर्णन आया है इसी तरह महर्षि पतंजलि के भाष्य में कई जगह आया है कि कृष्ण अपने मामा कंस को मारा इत्यादि। यह भी याद रखना चाहिये कि व्यास छः दर्शनकारों में सबसे अन्तिम दर्श हुआ है व्यास को वेदान्त दर्शन का कर्ता मानते हैं अब इन बातों के रहते यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि महाभारत की लड़ाई कब हुई और महाभारत नाम का ग्रन्थ कब रचा गया और कौन से व्यास ने उसको बनाया।

तथापि यह परिणाम निकला, कि महाभारत की लड़ाई को हुए बहुत काल बीता और असल महाभारत ग्रन्थ लड़ाई से कुछ काल पीछे लिखा गया परन्तु इसके बाद कालान्तर में उसमें परिवर्तन होते रहे। यहाँ तक कि आज यह सब कुछ अन्धकारमय होगया है और हमारे लिए महाभारत की लड़ाई

तथा महाभारत नामक ग्रन्थ के रचे जाने का समय निर्णय करना भी असम्भव सा होगया है।

यदि वास्तव में महाभारत की लड़ाई उपनिषद तथा सूत्रों के समय से पहिले हुई और असल ग्रन्थ भी उससे पहिले बना तो फिर इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान महाभारत में जितनी बातें उस समय के धर्म से विरुद्ध पाई जाती हैं वह सब कालांतर में मिला दी गई हैं और असल ग्रन्थकर्ता की लेखनी से नहीं निकली हैं।

(११) क्या यह कथा कल्पित है ?

बहुत पुरातत्वज्ञों ने यह सम्मति स्थिर की है कि महाभारत की कथा कल्पित है और इसकी घटनायें यथार्थ नहीं और बहुत से लड़ाई को यथार्थ पर उसके नायकों को कल्पित मानते हैं, हमारी राय में ये दोनों कथन मिथ्या हैं, जिसके प्रमाण ये हैं—

(१) कृष्ण और अर्जुन की वंशावली का पूरा २ पता चलता है उनके वंश में ऐसे राजे महाराजे हुये हैं जिन्हों ने ऐतिहासिक समय में राज्य किया है।

(२) सारे संस्कृत लिट्रेचर का प्रमाण इस कथन का उल्लंघन करता है (जैसा कि हमने ऊपर वर्णन किया है।

(३) कथा और कथा से सम्बन्ध रखने वालों के नाम सर्व साधारण में प्रसिद्ध हैं तथा देश के उन प्रान्तों में भी विदित हैं जहाँ सहस्रों वर्ष से पढ़ने लिखने का चिन्ह नहीं पाया जाता फिर कथा सम्बधी पुरुषों के नाम से प्रायः स्थानोंके नाम मिलते हैं यदि नाम कल्पित होते तो ऐसा कदापि संभव न था।

(४) जो टूटे फूटे ऐतिहासिक चिन्ह संस्कृत लिटरेचर में पाये जाते हैं उनसे भी कथा की बहुतसी घटनाओं की अंगपुष्टि होती है।

(५) यदि कथा को यथार्थ मानें तो कथा संबन्धी नामों को कल्पित मानने का कोई कारण विशेष नहीं दीख पड़ता, तथा उसमें यह प्रश्न उठता है, कि यदि ये नाम कल्पित हैं तो कथा के यथार्थ नायकों के नाम क्या थे ?

(६) कृष्ण का अवतार के तुल्य माना जाना इस बात की अंगपुष्टि करता है कि कृष्ण किसी कल्पित व्यक्ति का नाम नहीं था।

(७) हमारे विपक्षी अपने इस कथन के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं देते कोई २ ग्रन्थकार तो इस बात का सहारा लेते हैं कि प्राचीन आर्य्यावर्त में एक स्त्री के कई पति होने की प्रथा न थी एवं द्रौपदी का पाँच पाण्डवों से विवाह करना एक अत्युक्ति है और यथार्थ घटना नहीं। परन्तु महाभारत के पढ़ने वालों को मालूम है कि ग्रन्थकार ने इस घटना को अपवाद (Exception) के समय वर्णन किया है और इसके लिये कारण विशेष दिखलाया है। फिर ऐसे प्रबल प्रमाणों के मौजूदरहते कुछ महानुभावों को यह राय प्रमाणित नहीं कही जा सकती और न हम कृष्ण तथा अर्जुन प्रभृति नामों को कल्पित नाम मान सकते हैं।

(१२) क्या कृष्ण परमात्मा के अवतार थे ?

इस पुस्तक में कृष्ण विषयक जो घटनायें हमने इकट्ठा की हैं उनके पढ़ने से पाठकों पर यह विदित हो जायगा कि कृष्ण महाराज का अवतार मानना कहाँ तक सत्य है। हमारी राय है कि कृष्णचन्द्र ने कभी स्वयं इस बात का दावा नहीं किया और न उनके समय में किसी ने उनको पदवी ही दी, यह बातें नई गढ़न्त हैं और बौद्ध समय के पश्चात् प्रचलित हुई हैं।

समस्त वैदिक लिटरेचर अवतारों के सिद्धान्त के विरुद्ध है। वेद पुकार २ कर कहता है परमेश्वर कभी देह धारण

नहीं करता। यूरोपीय विद्वान् भी इस बात में हमारे सहमत हैं और कहते हैं कि अवतारों का सिद्धान्त बौद्धमत के पश्चात् प्रचलित हुआ। इससे पहले भारतवर्ष में मूर्ति पूजा वा अवतारों के सिद्धान्त का मानने वाला कोई भी नहीं था। हम इस पुस्तक के अन्तिम भाग में इस बार्ता पर बिचार करेंगे कि कृष्ण का चरित्र हमारे इस मन्तव्य की कहाँ तक पुष्टि करता है। तथा पाठक भी इसके अध्ययन से एक उपयुक्त सम्मति स्थिर कर सकेंगे।

सुहृदय पाठक! हम इन पृष्ठों में आपके सम्मुख एक महाशय का जीवन पेश करते हैं। श्रीकृष्ण यद्यपि अवतार न थे और मनुष्य थे। परन्तु मनुष्यों की सूची में उस श्रेष्ठ-तम आचरण के मनुष्य थे जिनको संस्कृत विद्वानों ने "मर्यादा पुरुषोत्तम" की पदवी दी है वह अपने समय के महान्शिक्षक थे, योद्धा तथा विद्या सम्पन्न थे, उनकी जीवनी हमारे लिये आदर्श रूप है। हम उनकी शिक्षा से बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। हमारी राय में तो आधुनिक शिक्षा मण्डली को उनकी जीवनी ध्यान पूर्वक पढ़नी चाहिये, क्योंकि यूरोप की नास्तिक फिलासफी बहुतेरे हिन्दूयुवकों के चित्त को चलायमान करके उनको हिन्दूधर्म के यथार्थ तत्व से पराङ्-मुख कर रही है और इनके दल का दल युरोपियन थिओरी आफ लाइफ' के पीछे भागा जा रहा है। उनकी दृष्टि में अच्छे २ स्वादिष्ट पकवान खाने, सुन्दर वस्त्र भूषण पहिनने तथा फैशनेबल सवारियों में बैठ के सुख संभोगादि से दिन काटने के अतिरिक्त जीवन का कुछ और उद्देश्य नहीं। आत्मा को वे कोई चीज़ नहीं समझते धर्म को वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। तथा यावत् सांसारिक आपत्तियों का इसी को कारण समझते हैं। वे इसी में भारतवर्ष का हित समझते हैं

कि इसका सर्वनाश कर दिया जाय और जन साधारण के हितार्थ एक लोकपालित राज्य स्थापित करके एक कामन-वेल्थ' खड़ा किया जाय जिसमें कोई किसी से न पूछे कि तेरा धर्म क्या है ? और तू कुछ धर्म रखता है या नहीं ! उनकी सम्मति में सब धर्म सम्बन्धी पुस्तकें समुद्र में फेंक दी जांय तथा धर्मसभाओं को देश निकाला दे दिया जाय। उनको राय है कि ऐसा न करने से देश का उद्धार नहीं हो सकता। भारतवर्ष का पोलिटिकल उद्धार भी इसी पर है कि किसी को दूसरे के आचरण पर प्रश्न करने का अधिकार न हो। हर एक मनुष्य को पूरी स्वाधीनता हो कि जो चाहे खावे पीवे और जो चाहे सो करे। केवल अनुशासन में उन्हें भाग मिल जावे और बड़े २ पद भी उन्हें मिलने लगे। सरकार उनसे सलाह लेने लग जाय टैक्स लगाने और उठाने में उनकी पूछ हो और उन्हें हर एक तौर के धार्मिक वा समाजिक बन्धन से छुटकारा मिल जाय। हिन्दू युवकों की एक मंडली आजकल इस सिद्धान्त की माननेवाली हो रही है। परन्तु दूसरी ओर जिस मंडली को आध्यात्मिक उन्नति का ध्यान है जिसको धार्मिक शिक्षा वा धार्मिक फिलासोफी से घृणा नहीं वे वैराग्यको वेदान्त, योग और संन्यासको ही अपना मंतव्य समझते हैं। उनके विचार में यह संसार स्वप्नवत् और सांसारिक सुख सब घृणित वस्तु है। उन्हें सांसारिक उन्नति की परवाह नहीं, वह अपने धुन में एक दम ब्रह्म वा एक दम परमयोगी बनने के अभिलाषी दीख पड़ते हैं उनकी समझ में वह लोग पागल हैं जो आत्मोन्नति को छोड़कर भौतिक उन्नति के लिये तत्पर हो रहे हैं। आजकल नवशिक्षित मंगली साधारणतः इन्हीं दो में से एक मत की अनुयायी हो रही है। परन्तु इनके अतिरिक्त बीच का एक और दल है,

जिसे उपरोक्त दोनों मंडलियाँ तुच्छ दृष्टि से देखती हैं। यह दल चाहता है, हिन्दू अपने प्राचीन शास्त्रोक्त धर्म पर स्थिर होकर उसी धार्मिक शिक्षा के अनुसार उन्नति भी करें। यह शिक्षित मंडली जैसे एक ओर जाति को नवीन वेदान्त तथा वैराग्य से बचाने का प्रयत्न करती है वैसेही दूसरीओर योरपकी भौतिक (Materil) फिलासोफी से भी बचने की चेतावनी देती है परन्तु मनुष्य में यह दोष है कि वह सदा जियादती की ओर झुकता है जिसे संस्कृत में अति दोष कहते हैं हमारी जाति में यह दोष इस समय प्रबल हो रहा है और इसी से हमारे नवशिक्षित युवगण अपने आचरण को मध्यम श्रेणी में नहीं रख सकते। ऐसे मनुष्यों के लिये श्रीकृष्ण की जीवनी तथा उनकी फिलासोफी बड़ी उपयोगी और लाभकारी होगी परन्तु खेद है कि गीता और महाभारत को पढ़कर लोग कृष्ण की शिक्षा के भाव को समझने में गलती करते हैं और उस को वैराग्य, योग तथा नवीन वेदान्तकी सिद्धि करके लोक परलोक को लात मार बाल बच्चों को छोड़ वस्त्र रंगा लेते हैं, हाय! वह यह नहीं समझते कि जिस कृष्ण ने अर्जुन को लड़ने पर तत्पर किया जिसने लड़ाई की समाप्ति पर युधिष्ठिर को (उसकी इच्छा के प्रतिकूल) राज्य करने पर मजबूर किया, जिसने स्वयं विवाह किया और बाल बच्चे उत्पन्न किये और अपने जीवन का अधिकांश भाग सांसारिक व्यवसाय में व्यतीत किया, जिसने अपने शत्रुओं से बदला लिया, जिसने दुष्ट पापात्माओं का नाश किया और जिसने दीन दुखियाओं की सहायता की जो स्वयं संसार में रह कर सांसारिक धर्म का पालन करता हुआ उत्तम श्रेणी की आत्मोन्नति को प्राप्त हुआ था, उसकी शिक्षा से हम कैसे यह भावार्थ निकाल सकते हैं कि हमारे लिये यही कल्याणकारी है कि हम अपने

बाल बच्चों तथा माता पिता को त्याग कर बन में चले जायें या अपना सांसारिक धर्म पालन किए बिना योग साधन में लग जायें। कृष्णजी की शिक्षा का एक भाव सारांश यह है कि मनुष्य अपने कर्तव्य को (चाहे वे सांसारिक हों वा धार्मिक) सचाई दृढ़ता तथा शुद्धाचरण से पालन करे इसी से उसे सत्य ज्ञान मिलेगा इसी से परम मोक्ष की प्राप्त होगा कृष्ण ने युद्ध क्षेत्र में बैठकर अर्जुन के लिये यह बात परम कर्तव्य ठहराई है कि वह अपने क्षात्र धर्म के पालन करने के हेतु अपने हाथों से लाखों जीवों का बध करे, वरञ्च प्रयोजन पड़ने पर अपने वंश वालों के भी शिर छेदन करे। उसने अपने हाथों से बहुतेरी लड़ाइयों में शस्त्र चलाये और रक्त बहाया। ऐसा व्यक्ति, कब इस बात की शिक्षा दे सकता है कि बीसवीं शताब्दी के पतित हिन्दू (जो अपने कर्म के न पूर्ण ब्राह्मण हैं और न पूर्ण क्षत्रिय) अपने बाल बच्चों को अनाथ छोड़ और जातीय कर्तव्यों पर पदाघात कर बिना ब्रह्मचर्य पालन किए बिना गृहस्थ आश्रम को निबाहे बिना यथाक्रम वेदशास्त्र को पढ़े और बिना अपने वर्णाश्रम के कर्तव्य पालन किये, योगसाधन में तत्पर हो जायें और स्वयं ब्रह्म बनने की उत्कट कामना में बन का रास्ता लें। कृष्ण की शिक्षा के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि जब तक उसे ब्राह्मण पदवी का अधिकार प्राप्त न हो तब तक वह अपने शत्रुओं के साथ लड़ाई करे यदि धर्म कर्म, न्याय, सत्यता, इत्यादि के लिए दूसरों के सर कुचलने का अवसर आन पड़े तो अपनी जान जोखिम में डाल कर भी उससे मुख न मोड़े हम कर्तव्यों के पालन करने में मिथ्या दया वा वैराग्य को पास तक न फटकने दें। यदि प्रत्येक पीड़ित मनुष्य अपने पीड़ा के हेतु दया का भाव दिखावे और वैराग्य को काम में लावे, तो एक दिन संसार से न्याय बिल-

कुल ही उठ जायगा ऐसे अवसर पर दया या वैराग्य का भाव दिखाना एक प्रकार की कायरता है। ऐसे अवसर पर किसीका यह कहना कि जब कुछ न बन पड़ा तो वैराग्य का आश्रय ले लिया बहुत उचित जान पड़ता है। बाजे बाजे ईसाई धर्म की केवल इसीलिये प्रशंसा करते हैं कि यदि कोई तेरे एक गाल पह तमाचा मारे तो दूसरा भी उसकी ओर फेर दे किन्तु उनसे पूछे कि इसपर कभी किसी ने साधना भी की है अथवा स्वयं इसाई मतावलम्बी इसका कहांतक साधन करतेहैं। नेचर इसके विरुद्ध शिक्षा देती है ये बातें केवल कहने की हैं कोई सामर्थ्य वाला पुरुष इस कायरता की क्रिया में नहीं जा सकता। जो लोग कृष्ण की शिक्षा पर अनुचित समालोचना करके उसको महाभारत की लड़ाई तथा उससे जो हानि पहुँची है उसका उत्तरदाता ठहराते हैं। वह टुक विचारें तो सही कि उनकी फिलासोफी का क्या अर्थ है यदि उनके घर में कोई चोर या डाकू आ घुसे तो क्या वे इस अवसर पर दया का भाव दिखावेंगे। या कोई विचारशील दयावान उस चोर को आपना माल ले जाने की आज्ञा देगा, अथवा स्वहित का विचार कर उस व्यवहार विरुद्ध कार्य्य के लिये उसे हानि पहुँचाने में तत्पर हो जायगा। क्या धर्म की यही आज्ञा थी, कि अर्जुन रणक्षेत्र से भाग खड़ा होता और इस प्रकार उन सब कर्तव्यों पर पानी फेर देता, जिनपर आशा करके युधिष्ठिर तथा अन्य महाराजे सेना सहित सम्मिलित हुए थे। क्या उस समय कृष्णका यही कर्तव्य था कि अर्जुन को भागता देख खुद भी उसके साथ लग जाता। हम नहीं समझते कि जो लोग कृष्णापर इस प्रकार की अयोग्य आलोचना करते हैं वे कैसे धर्म के रक्षक वा प्रचारक कहला सकते हैं उनका धर्म केवल मौखिक हैं उन्हें इस बात की परवाह नहीं कि उनका धर्म्म मनुष्यसमाज के उपयुक्त है वा नहीं।

उन्हें इससे मतलब है कि उनका व्याख्यान सुनने वालों को सुधामय प्रतीत हो। हमारा तो विश्वास है, कि दया तथा वैराग्य के इस झूँठे विचार ने ही हिन्दुओं का सर्वनाश कर दिया है और उनकी श्रेष्ठता को मिट्टी में मिला दिया। न उनको लोक का छोड़ा न परलोक का। यदि अब भी भारत बासी इन बहु विश्वासों के पंजे से निकलना न चाहें जब कि आधुनिक पाश्चिमात्य शिक्षा तथा गीता उनको इस बात की शिक्षा देती है तो ऐसी हालत में उनकी उन्नति का विचार मानों एक भ्रम है जिसका पूरा होना कदापि संभव नहीं। इन बातों पर विश्वास रखने वाले न लौकिक उन्नति कर सकते हैं न पारलौकिक क्योंकि आध्यात्मिक संसार में भी उसी की पहुँच है जो मनुष्य लोक में हर एक परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आध्यात्मिक उन्नति के सोपान पर पैर रखता है। आध्यात्मिक संसार में उन लोगों की पहुँच नहीं हो सकती जो इस संसार के नियमों वा परीक्षाओं पर लात मारते हैं और जो नियमानुसार अनेक साधनाओं से अपनी आत्मा को इस योग्य बनाते हैं कि वह सद्विचार तथा पवित्रता से उस पर ब्रह्म के चरण कमलों को अपने मस्तक से लगावें जिसके आधीन समस्त ब्रह्माण्ड हैं।

इन पृष्ठों में हम एक पवित्रात्मा महान् पुरुष का जीवन वृत्तान्त लिखते हैं जिसमें अपने जीवन काल में धर्म का पालन किया है और धर्म ही के अनुसार धर्म और न्याय के शत्रुओं का नाश किया है रहा यह कि क्या कृष्ण ने अद्वैत की शिक्षा दी वा द्वैत की (अर्थात् कृष्ण के मतानुसार आत्मा और परमात्मा एक है वा भिन्न) यह ऐसा प्रश्न है जिस पर इस पुस्तक के दूसरे भाग में विचार करेंगे।

लाजपतराय
नम्बर १९०० ई०

॥ ओ३म् ॥

प्रथम अध्याय ।

कृष्ण की जन्म भूमि ।

—०००—

'य'द्यपि वृन्दावन के कुञ्ज में जहां किसी समय कृष्ण जी गोपियों के साथ क्रीड़ा किया करते थे अब उनकी बंशी का स्वर वहां सुनाई नहीं देता। यद्यपि यमुना की धारा प्रति दिन ताजी रक्त से रंगी जाती है। तथापि यात्री के लिये यह भूमि अब भी पवित्र है, उसके लिये वह पवित्र * जारडन के सदृश है जिसके तट पर बैठ कर देश निकाला दिया गया इसराइल नबी की प्राचीन युद्धों के स्मरण से अश्रुपात होता है।

—कर्नल टाड।

समय परिवर्तन से आङ्गल शिक्षा से तथा नूतन वासनाओं के उत्पन्न हो जाने से भारतवर्षीय शिक्षितमंडली के मानसिक विचारों और विश्वासों में चाहे कितने ही परिवर्त्तन क्यों न हुए हों पर कौन सा हिन्दू है जिसको गंगा और यमुना ये दोनों नाम प्रिय न मालूम होते हों। अथवा जिसके हृदय में इन दोनों नामों के अधरोष्ठ पर आते ही वा कान में पड़ते ही किसी तरह का कोई भाव न उत्पन्न होता हो। प्यारी यमुना! क्या तू वही यमुना है जिसकी रेती में हमारे वीर योद्धागण अपनी बाल्यावस्था में क्रीड़ा किया करते थे और जिसके तट पर कुछ बड़े होने पर उन्होंने धनुष विद्या सीखी थी।

* जारडन मक्के के पास एक नदी का नाम है।

यमुने ! क्या यथार्थ में तू वही नदी है जिसके जल ने अनाथ पांडवों के दग्ध-हृदय को शान्ति प्रदान की थी और जिसके तट पर उन्होंने बड़े परिश्रम और चाव से इन्द्रप्रस्थ बसाया था। यमुने ! क्या तू वास्तव में वही यमुना है जिसके तट पर स्थित बनों को पांडवों ने काट डाला था और उनपर अनेक शहर बसाये थे जो पश्चात् आर्य्यों की राजधानी बनी जहाँ उनकी राज्य पताका इतनी ऊंचाई से फहराती दीख पड़ती थी कि उसे सैंकड़ों कोसों से देखकर उनके शत्रुओं का हृदय भी कंपायमान हो जाता था। यमुने ! क्या तेरी धारा वही धारा है जिसमें कृष्ण महाराज जलक्रीड़ा किया करते थे और जिसमें गर्भवती देवकी कृष्ण जैसे पराक्रमी महान् पुरुष को प्रसव करके स्नान करने आती थी और स्नान करने के उपरान्त परमात्मा से अपने शिशु की रक्षार्थ प्रार्थना करती थी। यमुने ! हमें तुझसे यों प्रश्न करने की इसलिये आवश्यकता हुई है, कि समय की कठोरता ने तेरी अवस्था बदल दी, दुख सहते २ तेरा हृदय विदीर्ण हो गया और नख से सिर तक तेरे प्रत्येक अङ्ग पर उदासीनता छा गई, तुर्कों ने तेरी छाती को कठोरतम आघातों से चलनी कर दी। तेरे तटपर भांति भांति के विशाल भवनों की जो पंक्तियां थीं उनका आज कहीं चिन्ह तक बाक़ी न रहा जो किसी समय धन सम्पन्न तथा ऊंचे ऊंचे राजप्रसादों से सुशोभित होने के कारण इन्द्रपुरी कहलाती थी, उसकी आज जर्जर अवस्था देखकर अश्रुपात हुए बिना बिना नहीं रहता। केवल यही नहीं, वरन् दूर दूर से यात्रीगण तेरी पुरानी संपत्तियों को याद कर करके रोने के लिये अब भी उमड़े चले आते हैं। तेरे तट पर अब भी एक शहर बसा हुआ है जो हमको तेरी सारी पुरानी बड़ाई का स्मरण दिलाता है। और जिसके प्राचीन भग्नावशेष उसके नवीन मन्दिरों के

साथ मिल कर मानों काल की कुटिल गति का सदेह प्रमाण दिखा रहे हैं।

प्रिय पाठकगण! आप समझ ही गए होंगे कि हमारा तात्पर्य मथुरा की नगरी से है, जो श्रीकृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण हिन्दुओं का एक महान् तीर्थ स्थान गिना जाता है। जिसकी स्तुति में हिन्दू कवियों ने अनेक कविताएँ रचडाली है।

ऐसी जनश्रुति है कि महाराज रामचन्द्र के समय में उस स्थान पर एक घना जंगल था जो एक जंगली राजा मधु के स्वत्व में था। और जिसके नाम पर इस प्रान्त को मधुबन कहते थे राजा मधु के मरने के पश्चात् उसका पुत्र लवण महाराजा रामचन्द्र से युद्धार्थ तत्पर हुआ जिस पर शत्रुघ्न लड़ने को भेजे गये लड़ाई में लवण मारा गया और महाराज शत्रुघ्न की जय हुई। जिसके स्मारक में उन्होंने इस स्थान पर मथुरा नगरी बसाई। इसका मथुरा नाम क्यों पड़ा यह प्रश्न ऐसा है जिसका उत्तर देना कठिन है, संभव है कि मधुपुरी से अपभ्रंश होकर मथुरा बन गया हो अथवा संस्कृत शब्द 'मथ' से कुछ सम्बन्ध रखता हो-'मथ' शब्द के अर्थ मथने अर्थात् मक्खन निकालने के हैं, संभव है कि दूध दही और मक्खन की अधिकता से इसका नाम मथुरा पड़ गया हो "ज़िन्दावस्था में मथुरा शब्द गोचर के लिये प्रयोग हुआ है फिर * गोकुल, ब्रज, और वृन्दावन ये सब नाम भी यही प्रगट करते हैं कि प्राचीन समय में यह प्रान्त बड़े बड़े बनों से पूर्ण था जो अपने गोचरों तथा पशुओं के लिये प्रसिद्ध थे और जहां दूध दही तथा मक्खनादि बहुतायत से मिलते थे।

* श्रीमद्भागवत में गोकुल व गाय का निकास 'गो' शब्द अर्थात् गाय से बताया है। [भा० अ० १० श्लोक २१।

ऐतिहासिक समय में पहले पहल मथुरा का वृत्तान्त महात्मा बुद्ध के जीवन चरित्र में आया है जिससे प्रगट होता है कि उस समय भी यह शहर भारतवर्ष के दक्षिण प्रान्त के प्रसिद्ध शहरों में से था परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय भी इसे कोई धार्मिक श्रेष्ठता प्राप्त थी वा नहीं पर बुद्धदेव के वहां प्रायः व्याख्यान देने से विदित होता है कि यह शहर उस समय भी एक बड़ा केन्द्र होगा। क्योंकि महात्मा बुद्ध विशेषतः ऐसे ही बड़े बड़े स्थानों में व्याख्यान किया करते थे जहां लोगों की अधिक भीड़ भाड़ होती थी एवं उनकी आशा सफलीभूत हुई और मथुरा कई शताब्दियों तक बौद्ध शिक्षा का केन्द्र स्थल बना रहा।

इसके उपरान्त मथुरा का वर्णन यूनानियों के सम्बन्ध में हुआ है। और इसमें कुछ संशय नहीं मालूम होता कि यूनानियों ने इस पर विजय प्राप्त किया और कुछ काल तक मथुरा बाख्तरिया वंश के आधीन रहा।

इसके पश्चात् चीनी यात्री फाह्यान के भ्रमण वृत्तान्त में मथुरा का वर्णन आता है। फाह्यान ५ वी शताब्दि के आदि में यहाँ आया है। उसने अपने भ्रमण वृत्तान्त में मथुरा का वर्णन किया है, और लिखा है कि उसकी राजधानी का भी यही नाम था। उसके कथनानुसार मथुरा में उस समय बौद्ध मत का विशेष प्रचार था। सब छोटे बड़े उसी मत के अनुयायी हो रहे थे। शहर में उस समय २०० बिहार (अर्थात् बौद्धों के धार्मिक मंदिर) थे। जिनमें ३ हज़ार बौद्ध भिक्षुक रहते थे और सात स्तूप (मैमोरियल मीनार) थे। फाहियान से २०० वर्ष पश्चात् एक और चीनी यात्री हुआनलिस्टांग यहां आया। वह भी मथुरा के विषय में लिखता है कि शहर मथुरा का घेरा उस समय ४ कोस का था। यद्यपि बिहार की संख्या २०० ही

थी पर उनमें रहने वाले भिक्षुकों की संख्या घट कर अब २००० हो गई थी इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों ने भी ५ मन्दिर बनवा लिये थे। स्तूपों की संख्या उस समय बहुत बढ़ गई थी। हुआनलिस्टांग के समय में बौद्ध तथा पौराणिक धर्म में परस्पर विरोध फैल रहा था और एक दूसरे को दबाने की चेष्टा कर रहा था; जिसका परिणाम यह हुआ कि महाराज शङ्कराचार्य्य और कुमारिल भट्ट की युक्तियों से बौद्धधर्म परास्त हुआ और पौराणिक मत की फिर से सम्पूर्ण भारतवर्ष में साधारणतः ध्वजा फहराने लगी, महमूद गजनवी के आक्रमणों के समय में भारत का दक्षिण प्रान्त पौराणिक मत का अनुयायी हो गया था और मथुरा हिन्दुओं का तीर्थस्थान बन चुका था। महमूद गज़नवी ने मथुरा को सन १०१७ में लूटा और मंदिरों का विध्वंस किया और वहां के सबसे बड़े मंदिर के विषय में अपने नायब को यों पत्र लिखा "य दिकोई मनुष्य ऐसा मकान बनाना चाहे तो बिना एक करोड़ दीनार के नहीं बनवा सकता और बड़े से बड़े सिद्धहस्त कारीगर भी उस को २०० वर्ष से कम में नहीं तैयार कर सकते" इतना लिख कर हज़रत बड़े अहङ्कार से लिखते हैं कि "मेरे हुकुम से तमाम मंदिरों को जलाकर ज़मीन में मिला दिया गया" २० दिन तक शहर लूटा गया और महमूद को तीन करोड़ का द्रव्य हाथ आया। तारीख़ यामीनी का लेखक लिखता है कि इस मंदिर की स्तुति न लिखने से हो सकती है और न चित्र खींचने से, इस दुष्ट के अपहरण के बाद मुसलमानों के राज्य में मथुरा फिर कभी पूर्ववत् अवस्था को प्राप्त नहीं हुई क्योंकि उन्हें सदा यही भय लगा रहा कि कहीं फिर मुसलमानों को इसके लूटने का विचार न पैदा हो जाय पर मुसलमानों का इतिहास स्वयं इस बात की साक्षी दे रहा है कि उनके समय में मथुरा अनेक बार

उनके धार्मिक पक्षपात का शिकार बनचुका है। 'तारीखदाऊदी' का लेखक 'रावी' है, कि सिकन्दर लोधी ने मथुरा के सब मंदिरों को नष्ट कर दिया और मंदिरों से सराय और मुसलमानी पाठशालाओं का काम लिया। मूर्त्तियों को कसाइयों के हाथ सुपुर्द कर दिया जिससे वह उनसे मांस तौला करें और मथुरा के हिन्दुओं को शिर और दाढ़ी मुड़ाने वा किसी अन्य प्रकार से पिण्ड तर्पण कराने को भी मना कर दिया।

सिकन्दर के पश्चात् जहांगीर के समय तक एक बार फिर मथुरा अपना प्राचीन वैभव प्राप्त करने लगी थी, परन्तु फिर भी औरंगज़ेब के आक्रमण से दब गई। सन् १६६६ ई०में औरङ्ग‌ज़ेब ने मथुरा पर आक्रमण किया और केशवदेव के बड़े भारी मंदिर को विकास कर मथुरा नाम इस्लामाबाद वा इस्लामपुर रक्खा। इस मंदिर की ३३ लाख की लागत थी। इस मंदिर की मूर्त्तियाँ नवाब कुदसिया बेगम की मसजिद (जो आगरे में है) की सीढ़ियों में जड़ी गई ताकि प्रत्येक आगन्तुक के परो तले पड़े और मंदिरके स्थानपर एक बृहत् मसजिद निर्माण की गई जो अब तक मथुरा में स्थित है। इस मन्दिर के नीचे का चबूतरा २८६ × २६८ फुट था। आखिर मुसलमानी अत्याचार का समय और औरंगज़ेब के मरते ही हिन्दुओं का भाग्योदय हुआ और मथुरा प्रांत पर जाटों ने अधिकार जमाया और अङ्गरेज़ी राज्य तक लड़ते भिड़ते इस प्रांत का कुछ न कुछ भाग अपने आधीन बनाये रहे। मथुरा के वर्तमान भवन इत्यादि इसी समय के बने हुए हैं। इन प्रसादों की बनावट ऐसी उत्तम हैं कि ये भारतवर्ष की दर्शनीय भवनों में गणना की जाती हैं। हम और प्रसादों के अतिरिक्त केवल उन इमारतों का यहाँ उल्लेख करेंगे जिनका कृष्ण की जीवनी से कुछ सम्बन्ध है।

(१) केशवदेव के नूतन मंदिर के निकटस्थ एक जलाशय है जो पोतड़ा कुंड कहा जाता है अर्थात् जिसमें कृष्ण महाराज के पोतड़े धोए जाते थे।

(२) इसी जलाशय के तट पर एक कोठरी है जो 'कारागृह' के नाम से प्रसिद्ध है, अर्थात् जिसमें वासुदेव और देवकी बंदी बनाकर रक्खे गये थे। पुराण के अनुसार इसी कोठरी में कृष्ण का जन्म स्थान कहा जाता है।

(३) यमुना के सब घाटों में विश्राम घाट प्रसिद्ध है इसके विषय में किंवदंती है, कि कंस का बध करके कृष्ण और बलराम ने यहां विश्राम किया था इस घाट पर स्थित भव्य भवनों की शोभा दर्शनीय है।

(४) योग घाट उस स्थान का नाम है जहां कंस ने नन्द और यशोदा की अज्ञान बालिका योगनिद्रा को (जो देवकी के साथ लेटी हुई थी) देवकी की संतान समझ कर जमीन पर दे मारा और वहां से वह देवी का रूप धारण करके लुप्त हो गई ?

(५) "कुबजा कुआं" नामक स्थान पर वृन्दावन से लौटती समय पहुँच कर कृष्ण जी ने एक कुबड़ी की कमर अपने योग बल से सीधी कर दी थी।

(७) इसी प्रकार "रणभूमि" यह स्थान है जहां कृष्ण व बलराम ने कंस के पहलवानों से युद्ध करके उन्हें पराजित किया था।

(७) यमुना के निकटस्थ दो छोटे ग्राम हैं जिनमें से एक का नाम अब तक 'गोकुल' और दूसरे का 'महाबन' है। किम्बदंती है कि जिस नंद गोप को कृष्ण महाराज पालन पोषण के लिये हवाले किए गए थे वह यहां का रहने वाला था। अब कृष्ण सम्बन्धी जो मकान गोकुल में दिखाये जाते हैं वह महा-

बन में हैं, जो वर्तमान गोकुल से कुछ दूरी पर बसा हुआ है। जिस घाट पर जन्म की रात्रि के समय कृष्णचन्द्र नन्द के सुपुर्द किये गये थे उसे 'उत्तरेशर घाट' कहते हैं इनके अतिरिक्त वह स्थान दिखाये जाते हैं जहां गोकुल में रहकर कृष्ण के जीवन काल की दूसरी घटनायें हुई हैं वहां गोकुल और महावन दोनों स्थान पवित्र गिने जाते हैं, जिनमें से गोकुल नदी के तट पर है और उसमें बड़े २ मंदिर बने हुये हैं; महावन के निकट शाहजहां के समय तक बहुत बड़ा बन था और जहां शाहजहां प्रायः शिकार खेलने आया करता था।

गोकुल आजकल एक बड़ा कस्बा है, जो वल्लभाचारी सम्प्रदाय की जन्मभूमि होने से इस दशा को प्राप्त हुआ है। इस सम्प्रदाय की ओट में ऐसा व्यभिचार होता है कि लेखनी उसे लिखते हुए लजाती है।

(८) मथुरा से ६ मील ऊपर तीन ओर प्यारी यमुना से घिरा हुआ द्वीपाकार में वृन्दावन का कसबा बसा हुआ है जहां कृष्ण जी ने बचपन के कई वर्ष व्यतीत किए हैं। संस्कृत में वृन्दा तुलसी के पेड़ को कहते हैं इसलिए यह अनुमान होता है कि इस बन में कभी तुलसी के पेड़ बहुत उपजते होंगे जिससे इसका नाम वृन्दावन पड़ गया हो। अस्तु इस नाम का चाहे कुछ और ही कारण क्यों न हो परन्तु अब तो यह नाम ऐसा प्रसिद्ध तथा चिरस्थायी हो गया कि जब तक कृष्ण का नाम जीवित रहेगा तब तक उसका वह नाम हिन्दुओं के लिए पूजनीय बना रहेगा।

तीन ओर यमुना की लहरें और उसके किनारे किनारे सुन्दर तथा ऊंचे मन्दिरों की पंक्तियां ऐसी शोभा देती हैं जिसे देखकर प्रत्येक मनुष्य प्रकृति और मनुष्यकृत शोभाओं के मेल से अपना चित्त हर्षित कर सकता है। वृन्दावन में

सं० १८८० में ३२ घाट और लगभग १००० मन्दिर थे। वृन्दावन वैष्णव सम्प्रदाय का मुख्य स्थान तथा राधावल्लभियों की जन्मभूमि है।

(६) इस अध्याय को समाप्त करने के पूर्व कुछ और शब्दों का उल्लेख करना हम आवश्यक समझते हैं।

"ब्रजमण्डल" मथुरा के निकटस्थ प्रदेश जो ४२ मील की लम्बाई तथा ३० मील की चौड़ाई में बसे हैं उन्हें ब्रजमण्डल कहते हैं। कृष्ण मतावलम्बी इस सम्पूर्ण प्रान्त की यात्रा करते हैं, इस यात्रा को "बनयात्रा" कहते हैं। ब्रज शब्द का अर्थ पशुओं के खेड़के हैं, जैसे गोकुलके अर्थ गऊओंके हैं। यह यात्रा भादों मास में कृष्णचन्द्र के जन्मदिन के उत्सव में होती है। यात्रीगण मथुरा से यात्रा प्रारम्भ करते हैं और सारे ब्रजमण्डल के मन्दिरों, बनों तथा घाटों की परिक्रमा करते हुए गोकूल वृन्दाबन इत्यादि स्थानों में होकर पुनः मथुरा लौट आते हैं। हम स्थानान्तर में सिद्ध करेंगे कि यह बनयात्रा तथा रासलीला आदि प्राचीन काल की नहीं हैं। इन्हें पौराणिक समय के पुजारियों तथा ब्राह्मणों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए रचाहै।

हाय! खेद है कि कृष्ण महाराज की जन्मभूमि में उन्हीं के नाम पर उन्हीं पर विश्वास रखने वाले ऐसा अत्याचार करें। जिसे देखकर कौन सा ऐसा पुरुष है जिसका हृदय कँपायमान न हो जाता हो वा जिसके हृदय से एक बार आह की ज्वाला न निकलती हो। कुटिलकाल! तूने बड़ी अनीति मचा रक्खी है, और तो सब अनर्थ किया ही था, उसपर स्वतंत्रता, धन, हीरे, जवाहरात इत्यादि का अपहरण कर संसार की सब से बलिष्ठ एवं सम्पतिशाली जाति को भिखारी बना दिया, धर्म की उच्चतम पराकाष्टा से पृथक् कर अधर्म के गढ़े में ढकेल दिया। विद्या और विज्ञान, कला और कौशल सब कुछ ले

लिया पर हमारे पूज्य महापुरुषों के पवित्र जीवनों को तो अकलङ्कित छोड़ देता। हाय! तूने उनके नाम और यश को भी मृतवत बना दिया, जिनके नाम से हमारी मृतक जाति अब तक अपने को जीवित समझती थी और जिनका श्रेष्ठ नाम लेने से हमें फिर श्रेष्ठता की आशा होती थी।

द्वितीय अध्याय।

श्रीकृष्णचन्द्र जी का वंश।

श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज मातृपक्ष से चन्द्रवंशी यादव क्षत्रियों के नाती थे और पैतृक ओर से सूर्य्यवंशी क्षत्रियों के वंश से थे। निम्नलिखित वंशावली से उन दोनों प्रसिद्ध क्षत्रिय वंशों से उनका सम्बन्ध भलीभांति प्रगट हो जायगा।

इक्ष्वाकु से बहुत पीढ़ियों पश्चात् उनके वंश में एक राजा हर्यश्व नामक हुआ है जिसने अयोध्या से निकाले जाने पर गोवर्धन की नींव डाली, उस समय मधुवन प्रान्त पर राजा मधु शासन करता था जिसने अपनी कन्या मधुमती का हर्यश्व के संग विवाह कर दिया इन्हीं दोनों की सन्तान का वंशवृक्ष पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है:—

वंशवृक्ष।

पैतृक पक्ष से—

हर्यश्व और मधुमती—
माधव
|
भीम
|
अन्धक
|

रेवती
|
विश्वगर्भ
|
वसु या सूर
|
वसुदेव — कुन्ती पांडु की स्त्री (युधिष्ठिर, अर्जुन व भीम की माता) — सुपरिहया (माता शिशुपाल राजा चेदि)

वसुदेव
|
देवकी से कृष्ण — रोहिणी से बलराम
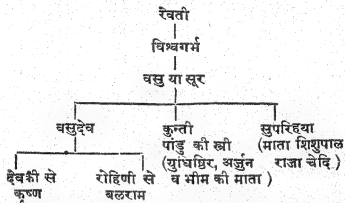
माता की तरफ से श्री कृष्ण जी का वंश वृक्ष निम्नलिखित है।

अरूसी
|
अयूस
|
नहुष
|
ययाति
|
यादव
|
विद्रर्भ
|
अंधक
|
आहुक
|
उग्रसेन — देवक
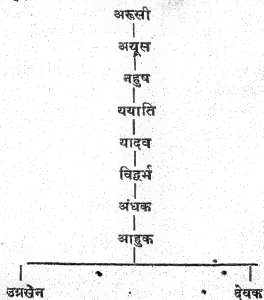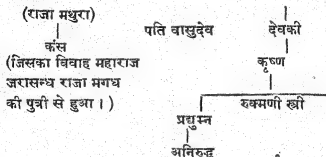
कृष्ण के जन्म के समय यादवों की गद्दी पर उग्रसेन का पुत्र कंस विराजमान था जो अपने पिता को उतार कर स्वयं गद्दी पर बैठा था। कंस जरासंध का दामाद था। यह जरासंध मगधदेश का राजा और अपने समय का बड़ा प्रतापी था। इसी की सहायता से कंस अपने पूज्य पिता को जीते जी राज्य से पदच्युत कर स्वयं राजा बन बैठा पर औरंगजेब के सदृश इस ने पिता को बन्दी नहीं रखा था।

कंस अपने समय का ऐसा कृतघ्न तथा अत्याचारी राजा था कि उससे उसके अपने पराये सब दुःखित थे और जिससे छुटकारा पाने के लिये उसकी प्रजा परमात्मा से सदा प्रार्थना करती थी। उसके निन्दनीय कार्यों में से पहिला तो यही था कि उसने अपने पूज्य पिता का यों अपमान किया, और अपने इस कुत्सित कार्य्य से अपने वंश को कलंकित किया। सत्य है, योग्य के पुत्र सदा योग्य नहीं हुआ करते। ऐसे ही कपूत अपने वंश की मान मर्यादा को मिट्टी में मिला देते हैं। कंस का वृद्ध पिता उसके बुरे आचरण को देखकर अन्तःकरण से कुढ़ा करता था। पैतृक स्नेह तथा वंश की कुलीनता के विचार से उसका पिता उसके विरुद्ध बलवा करना अनुचित समझता था और उसके अत्याचारों को सहन करता था। भाई बन्धु, धनी,

राज्य कर्मचारी, यहाँ तक कि प्रजा भी इसके निन्दनीय कार्य्यों से तंग थी और उच्चवंश होने के कारण किसी को भी इतना साहस न था कि सबल वृक्ष की इस शाखा को तोड़ डाले और वृक्ष को इसके बुरे प्रभावों से बचावे। पर यह कब सम्भव था कि ऐसे अन्यायी की अन्याय रूपी ज्वालाएँ बढ़ती जायें और परमात्मा उसको कुछ दण्ड न दे।

अपने निन्दनीय कर्मों से कब तक परमात्मा की सृष्टि को तंग कर सकता था। परमेश्वर भी उसके अत्याचारों का फल उसको देने वाला था। उसके अत्याचारों का अन्त अब निकट पहुँच गया था। उस जगत् पिता ने मुक्त आत्माओं में से एक को फिर जन्म दिया जिसके द्वारा विश्व में पुनः धर्म और न्याय का राज्य स्थापित हो और जन-साधारण में वह एक आदर्श स्वरूप बन जाय।

इधर पिताद्रोही कंस को भी प्रगट हो गया कि मेरे दुष्कर्मों का परिणाम अब मुझे शीघ्र मिलेगा। उसके अन्तःकरण से ये भाव उत्पन्न हुए कि उठ, अब भी अपने आचरणों के सुधारने तथा सुपथ पर आने का समय है; अधर्म और पाप का साथ छोड़ पूर्वजों के यशपर लगाये हुए कलंकरूपी धब्बे को मिटाने का यत्न कर। परन्तु जो मनुष्य पाप के करने में लिप्त होजाता है उसके लिये ऐसी ध्वनि का उठना व्यर्थ है। वे भयभीत होने पर भी और घोर पापों के करने में उद्यत रहते हैं। और उस समय तक उनके पाप बढ़ते जाते हैं जब तक उन्हें परमात्मा से समुचित दंड नहीं मिल जाता।

तृतीय अध्याय।

श्रीकृष्ण का जन्म।

विष्णु पुराण में लिखा है कि जब देवकी का विवाह बसु-

देव से हो चुका और दुलहिन को दुलहा के घर पहुँचाने के लिये रथ पर सवार कराया गया तो कंस उसके सारथि बने। चलते चलते आकाशवाणी हुई कि "रे मूर्ख तू किस भ्रम में पड़ा है, जिस लड़की को तू रथ पर बैठा कर उसके श्वसुर के घर ले चला है उसी के उदर से एक पुत्र उत्पन्न होगा जिसके हाथ से तेरा बध होगा"। यह बात कंस पर आकाशवाणी अथवा किसी योगी पुरुष के मुख से विदित हो गई कि मुझे अपने राजपाट में कुछ आशङ्का हो सकती है तो वह इस लड़की की सन्तान से है। क्योंकि उसके दादा के सन्तान में से और कोई उसके स्वत्व में अड़चन डालने वाला नहीं था। इस विचार के उत्पन्न होते ही उसकी पापात्मा व्याकुल हो उठी। उसे अपनी मृत्यु आंखों के सामने चारो तरफ दीख पड़ने लगी। और उस अज्ञान बालिका का अन्त कर देते।

सत्य है पापी अपने को बहुत बलिष्ठ और कठोर हृदय समझता है पर वास्तव में उसका अन्तःकरण पापों से खोखला होकर बलहीन हो जाता है। तुच्छ भय वा उसकी छाया मात्र उसे भयभीत तथा शान्तिरहित कर देती है। उसके सारे पाप और सारे दुष्कर्म सदैव उसके सन्मुख नाचते रहते हैं और नाना प्रकार से उसको डराने लगते हैं। वह आत्मायें जिन्हों ने उससे किसी प्रकार को पीड़ा पाई है, भयानक रूप धारण करके उसके नेत्रों के सन्मुख दौड़ती हुई नजर आती है और सोते जागते उसे भय दिलाती हैं। उसकी अवस्था उस चोर के समान हो जाती है जो अपनी छाया मात्र से डर जाता है वा थोड़े से आहट से कांपने लगता है। आगे चल कर लेखक लिखता है कि कंस के हृदय में यह विचार आते ही उसे विश्वास हो गया कि अब मेरा अन्त आ पहुँचा। मृत्यु से छुटकारा पाने के हेतु उसे यह उपाय सूझा कि जैसे

हो सके देवकी का वध कर देना चाहिये और यह विचार कर उसने रथ को रोक दिया। खड्ग लेकर देवकी की ओर लपका और चाहता था कि एक ही वार में उसका शीश धड़ से अलग कर दे पर वसुदेव ने नम्रता पूर्वक हाथ जोड़ कर उसे भगिनी-वध के पाप से बचाया।

कंस क्रोधान्ध होकर स्त्री पर वार करने को उठा था पर जब चारों ओर से हाहाकार मचने लगा और उसकी निन्दा होने लगी तो उसे बड़ी ग्लानि हुई। उसने वसुदेव से यह प्रतिज्ञा करा ली कि वह देवकी की सारी सन्तान को उसके हवाले कर दे, तब अपने विचार से बाज आया। और देवकी सहित वसुदेव को अपने घर जाने की आज्ञा दी* इस विषय में सब पुराण एक मत हैं कि वसुदेव ने निज प्रतिज्ञा पालन में अपने छः पुत्रों को कंस के हवाले कर दिये और कंस भी ऐसा निर्दयी था कि उसने इन छओं को एक एक कर

---

* इस विषय में पुराणों में बड़ा मतभेद है कोई पुराण कहता है कि यह आकाशवाणी हुई कि इस लड़कीकी सन्तान द्वारा तेरा वध होगा। कोई लिखते हैं कि यह ध्वनि आई कि आठवें संतान से तेरा नाश होगा। कोई इस भविष्यवाणी को नारद से कहा जाता कहते हैं। पुराणोंमें जहां कहीं लड़ाई झगड़े का काम लेना होता है वहाँ नारद जी की सहायता ढूंढी जाती है। साधारण बोलचाल में लड़ाई लगाने वाले व इधर की बात उधर करने वाले को 'नारद मुनि' कहते हैं। न जाने नारद जी को यह Certificate किस कारण मिला, क्योंकि नारद एक विख्यात शास्त्रकार तथा महर्षि का नाम है। पुराण के लेखक का शायद यह तात्पर्य है कि किसी दुराचारी ने राजा को यह कुमन्त्रणा दी थी जिसमें कोई उसका वंशज राज्याधिकार का दावा न करे। अथवा उसके राज-कीय विषयों में अड़चन न डाले।

मरवा डाला पर जब सातवीं बार देवकी ने गर्भ धारण किया तो पैतृक स्नेह के आगे निज प्रतिज्ञा पालन का विचार डावाँ-डोल हो गया। किसी जाति वा धर्म में इस बात की व्यवस्था नहीं दी गई है कि जो प्रतिज्ञा बलात् कराई जाये उसका उल्लंघन करने वाला पाप का भागी हो सकता है या नहीं। दुष्ट कंस ने देवकी के पुत्रों का वध तो करा ही डाला था। वसुदेव के दूसरे पुत्रों को भी (जो दूसरी स्त्रियों से थे) मरवा डाला।

क्या किसी लेखनी में शक्ति है कि उस पिता के अतिरिक्त सन्ताप का चित्र खींच सके जिसके सम्मुख अज्ञान बालकों का सिर काटा जाय? कौन पिता है जो ऐसी अवस्था में उसके प्राण रक्षा के हेतु एक बार प्रयत्न न करेगा? बच्चों की स्वाभाविक मृत्यु ही माता पिता के हृदय को दग्ध कर देती है बहुतेरे ऐसे हैं जो अपने बच्चे की आकस्मिक मृत्यु के सन्ताप में पिघल स्वयं मृत्यु का शिकार बन जाते हैं वा जन्म पर्य्यन्त शोकसागर में पड़े रहते हैं। पर यहां तो एक दो की कौन कहे छः के छः पुत्रों का उसके सामने बध हुआ। वसुदेव जी इस सन्ताप से महादुःखी हो गए थे इसके सहन की विशेष शक्ति न रही और प्रतिज्ञा करली कि जैसे होगा अब इस दुष्ट के पञ्जे से अपने बच्चों को बचाऊंगा। इस सातवें गर्भ की रक्षा के विषय में पुराण में लिखा है कि देवताओं ने देवकी जी के गर्भ से बच्चा निकाल रोहिणी जी के गर्भ में डाल दिया (रोहिणी वसुदेव की दूसरी पत्नी का नाम है) और यह बात प्रगट की गई कि देवकी का गर्भ नष्ट हो गया इस कथन से दो परिणाम निकाल सकते हैं:—

एक तो यह कि देवकी का गर्भ छिपाया हो और रोहिणी जी का गर्भवती होना प्रसिद्ध किया गया हो रोहिणी जी गोकुल ग्राम में नन्द के घर रक्खी गई और देवकी जी के

बच्चा उत्पन्न हुआ तो उसको तत्काल रोहिणी की गोद में रख के यह प्रसिद्ध कर दिया गया कि देवकी का गर्भ नष्ट हो गया।

दूसरा यह कि वास्तव में बलराम जो रोहणी के ही पुत्र थे और देवकी जी का सातवां गर्भ भय चिन्ता वा किसी अन्य कारण से नष्ट हो गया था। इससे परिणाम यह निकला कि सातवें बच्चे की जिसकी इस प्रकार गुप्त रीति पर रक्षा की गई वह बलराम था।

देवकी जी सातवीं बार गर्भवती हुईं। इस पर तो पहिले ही से पहरा बैठता था पर इस बार पूरी ताक़ीद रखने की आज्ञा हुई एक सुरक्षित स्थान में बन्द करने के पश्चात् उन पर पहरा रख दिया गया और ऐसा प्रबन्ध किया गया जिसमें किसी प्रकार से भी वह अपने बालक को न बचा सके। ऐसा मालूम होता है कि इस बालक के वध के लिये कंस की ओर से जैसा उत्तम प्रबन्ध किया गया था वैसा ही दूसरे पक्षवाले इसके रक्षणार्थ लगे हुए थे।

इधर कंस ने पूर्णतया पहरा बैठा दिया और यह प्रबन्ध किया कि बच्चा किसी प्रकार बचने न पावे। उधर वसुदेव और उनके मित्रों ने बच्चे के बचाने के लिये पूरी पूरी युक्ति कीं। जिसका परिणाम यह हुआ कि दुष्ट कंस की सारी युक्तियाँ निष्फल हुईं और वसुदेव और उसके मित्र अपने यत्न में सफल हुए। जिस रात्रि में कृष्ण का जन्म हुआ उसी रात्रि को उन्हें राजमहल से निकाल कर गोकुल पहुँचा दिया और वहाँ से नन्द की नवजात बालिका को लाकर देवकी के साथ पलंग पर लिटा दिया *।

* भागवत पुराण में एक जगह लिखा है कि जब देवकी गर्भवती थीं तो वह एक दिन यमुना में स्नान करने गईं वहां उन्हें नन्द की पत्नी यशोदा से सम्मिलन हुआ। परस्पर जब दुःख की चर्चा चली तो यशोदा

सारांश यह है कि भादों के कृष्ण पक्ष की आठवीं तारीख़ को मथुरा की राजधानी में श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। रात अन्धेरी थी। मेघ का भयङ्कर शब्द मानों पापियों का हृदय विदीर्ण कर रहा था। आँधी इतने वेग से चल रही थी मानों वह पृथ्वी तल से भवनों को उखाड़ कर फेंक देगी और वर्षा ऐसी हो रही थी मानों वह प्रलय करकेही विश्राम लेगी, यमुना जी बढ़ी हुई थीं, जिस रात्रि को कृष्ण ने जन्म लिया वह रात्रि वास्तव में भयंकर थी क्योंकि प्रकृति देवी क्रोध से विकट रूप धारण किये हुए थी।

बच्चे के जनमते ही वसुदेव जी उसे कपड़े में लपेट राज-प्रसाद से बड़ी सावधानी से बाहर निकले, कहते हैं कि उस रात्रि को सारे पहरीगण योगनिद्रा से इस प्रकार मतवाले हो गये थे कि उन्हें इस बात की सुध न रही कि कौन महल से निकलता है और कौन अन्दर जाता है पर इसमें संशय नहीं हो सकता कि या तो पहरे वालों की असावधानी से वसुदेव को बाहर निकल आने का अवसर मिला अथवा पहिरे वाले जान

ने देवकी को बचन दिया कि मैं तेरे बालक की रक्षा करूँगी। और अपना बालक बदले में तुम्हें दे दूंगी। प्रियपाठक! यह बात हिन्दुस्तान के इतिहास में कुछ पहिली नहीं हैं, ऐसे दृष्टान्त बहुत मिलते हैं जिसमें कि राजकुमारों की इस तरह रक्षा की गई है और दूसरी स्त्रियों ने उनके हेतु अपने प्यारे पुत्रों का बलिदान दिया है। महाराणा उदयसिंह (चित्तौड़) इसी तरह बचाए गए। उनकी दासी ने कुंवर को फूल के टोकरे में रखकर दुर्ग से बाहर कर दिया और उसकी जगह पालने पर अपना लड़का लिटा दिया। जब उदयसिंह के शत्रु उसको ढूढ़ते २ वहाँ आये तो उसने रोते हुए पालने की ओर इशारा किया। जिस पर शत्रुओं ने उसी लड़के को उदयसिंह समझ कर एक ही कटार से उसका काम तमाम कर दिया।

बूझ कर वसुदेव का हित समझ कर चुप रह गये। वास्तव में वसुदेव जी कृष्ण को छिपाकर रनवास से बाहर निकल आये समय आधी रातका था। बाहर निकलते ही *शेषनाग ने अपने फण से कृष्ण पर छत्रछाया कर दिया और इस प्रकार उन्हें भींगने से बचा लिया। यमुना में पैर रक्खा तो आँधी बन्द हो गई, आकाश मण्डल स्वच्छ होने लग गया और तारे चमकने लगे, नदी नालों का वेग कुछ कम हो गया। झील तथा सरोवर में नाना प्रकार के पुष्प महकने लगे। जंगली वृक्षों में पुष्प लग गये और उनपर पक्षिगण कलोल करने लगे। देवता पुष्प वर्षा करने लगे। अप्सरायें नाचने लगीं। सारांश यह कि सृष्टि मात्र हर्ष मनाने लग गया था कहां तो यमुना का जल अथाह हो रहा था और कहाँ महाराज का पैर रखते ही इतनी उतर गई कि वसुदेव उसमें से पैदल पार हो गए *दूसरे तटपर नन्दजी बाट देख रहे थे उन्होंने कृष्ण को ले लिया और अपनी लड़की को वसुदेव के हवाले किया।

श्रीकृष्ण रातों रात गोकुल पहुँचा दिये गए उनकी जगह यशोदा की लड़की, देवकी के साथ लाकर लिटादी गई। कंस को दूसरे दिन जब ज्ञात हुआ कि रात को देवकी को बालक जन्मा है तो वह तत्काल उठा और सौरी में चला गया। देवकी

---

*नाग एक जङ्गली जातिका नाम था जो यमुना के आस पास रहती थी इस पुस्तक में आगे कई स्थानों पर इसका वर्णन आवेगा। इतिहास में भी इस जाति का वर्णन आया है इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस जाति का कोई सरदार वसुदेव का सहायक बन गया हो।

*सुहृदय पाठक ! आप तो समझ ही गये होंगे कि इसके क्या अर्थ हैं यह पुराणा की रसीली भाषा हैं इसे मैंने इस लिये उद्धृत कर दिया है कि आप भी इसके आनन्दसे मगन हों, यह कृष्णका प्रथम अलौकिक कार्य है

उसे देख उच्च स्वर से विलाप करने लगी पर उस दुष्ट ने एक न माना और उस लड़की को (जो उसके साथ पलंग पर पड़ी थी) उठाकर पृथ्वी पर दे मारा।

दुष्ट कंस! पाप ने तेरी आँखों पर पट्टी बाँध दी। सारी आर्य्य मर्यादा को तूने मिट्टी में मिला दिया। इस अज्ञान बालिका के बध से तूने अपने को महापाप का भागी बना लिया और यह न सोचा कि मृत्यु से किसी प्रकार छुटकारा नहीं हो सकता। जिस राज्य प्राप्ति के लिये तू ऐसे पाप कर रहा है वह क्षणिक है पर ऐसे घोर पाप करने से तेरी आत्मा घोर अधोगति को प्राप्त होती है।

पाप से बढ़ कर अन्धा करने वाली दूसरी शक्ति जगत् में नहीं है। एक पाप के छिपाने के लिये मनुष्य को अनेक पाप करने पड़ते हैं। पाप बड़ा बली है, जो लोग पाप पर विजयी नहीं हो होते उनको सदा खटका बना रहता है। रस्सियाँ साँप बनकर उनको डँसने दौड़ती हैं। सारा संसार उनको शत्रु सा मालूम होता है, जितना कोई सीधा तथा निष्कपट होता है उतना ही वह (पापी) उससे डरता है। अज्ञान बालकों को भी यह अपना शत्रु समझ कर उनके बध पर कमर कस लेता है यहाँ तक कि उसके पापका बोझ इतना भारी हो जाता है कि वह स्वयं उसी के बोझ से दबकर मर मिटता है।

पुराण का लेखक आगे लिखता है कि जब लड़की को उठा कर भूमि पर पटका तो वह तत्काल देवी का रूप धर कर वायु में विलीन हो गई और कंस खड़ा देखता ही रह गया * पर

* हजरत ईसा के जन्म के विषय में भी ऐसी ही कथा प्रसिद्ध है कि हिरोदेशी (जो उस समय वहां का शासक था) ने इसी तरह तथा इसी भय से अनेक बालकों का बध कर डाला।

वह ताड़ गया कि या तो मेरे साथ धोका किया गया या मैंने इस बालिका को व्यर्थ मारा। भविष्यत वाणी तो बालक के विषय में थी। जो हो पर उसने यादववंश के सारे बालकों के बध की आज्ञा * देदी। ढूंड़ २ के राजकुमार मारे गये। बहुतेरे भाई वृन्द देश छोड़ कर चल दिए और बहुत दिनों तक यह मार पीट जारी रही।

चतुर्थ अध्याय।

बाल्यावस्था गोकुल ग्राम।

हमने पिछले अध्याय में श्रीकृष्ण को यशोदा की सेज पर लेटा छोड़ कर समाप्त किया था, पाठकों को यह जानने की अभिलाषा होगी कि इस यशोदा का पति नंद कौन था। पुराणों से पता लगता है कि यह एक जाति विशेष का सरदार था, जिसे पुराणों में गोप लिखा है। इस जाति का कोई विशेष निवासस्थान नहीं था। अब भी भारतवर्ष में ऐसी जातियाँ हैं जो किसी जगह एकदेशी नहीं रहतीं वरन अपने गाय बछड़ों के लिये आज इस गाँव में हैं तो दो चार महीने के बाद दूसरे गाँव में चली जाती हैं, इनमें से कोई २ जातियाँ ढंगर रखती हैं और दूध मक्खनादि बेचती हैं और कोई २ दूसरा व्यवसाय करती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण जी के जन्म के समय कोई ऐसी ही जाति उस जंगल में (जो यमुनापार स्थित था) आकर ठहरी हुई थीं, जहाँ वे अपने पशु चराते तथा दूध मक्खन बेचते थे। अतः श्रीकृष्ण के जन्म को गुप्त रखने के हेतु किसी ऐसी जाति से सहायता लेना कुछ अधिक

* शाहनामे में फरेदूं के जन्म के विषय में भी ऐसी ही कथा लिखी है।

युक्तियुत जान पड़ता है। क्योंकि वहाँ पर श्रीकृष्ण के छिपाए जाने का बहुत कम संदेह हो सकता था। फिर कंस को भी यह संदेह नहीं हो सकता था कि इस घूमते चरवाहों के समूह में एक राज कुमार यों पाला जा रहा है। हम ऊपर कह आए हैं कि वसुदेवजी के दूसरे पुत्र बलराम भी गोकुल में पहुँचा दिये गए थे और वह भी गोपियों के पास * पालनार्थ रख दिए गये थे। इस प्रकार बलराम और कृष्ण दोनों भाई को इकट्ठे रहने का अच्छा अवसर मिला। कृष्ण के बाल्यावस्था की बहुत सी आश्चर्यजनक घटनायें प्रचलित हैं। उनको परमेश्वर का अवतार मानने वाले भक्तों ने उनके जीवन की सामान्य घटनाओं को भी ऐसी रंगीली भाषा में वर्णन किया है कि किसी विचारवान् के लिये कदापि विश्वसनीय नहीं हो सकतीं पर इनके भक्तों का यही तात्पर्य था।

संसार की छोटी मोटी बातों के लिये अलौकिक शब्द प्रयोग नहीं हो सकते। इसलिये प्रत्येक महान् पुरुष बहुत सी ऐसी बातों का कर्ता कहा जाता है जो जन साधारण की दृष्टि में अलौकिक तथा आश्चर्यजनक दीख पड़ती हैं। प्रत्येक महान् पुरुष के अनुयायी तथा भक्तों ने उसके बचपन की घटनाओं को इस प्रकार अलंकृत कर दिया है कि वे लौकिक से अलौकिक हो जाती हैं। पर विचारवान् पुरुष अपनी विवेचना शक्ति द्वारा उन अलौकिक व्यवहारों में से भी कुछ न कुछ सत्य अवश्य निकाल लेता है। कृष्णचन्द्र ने अपने बचपन में गोकुल में रह कर जो अलौकिक कार्य्य किये हैं उनका हम यहाँ संक्षिप्त विवरण लिखते हैं:—

* अब भी बहुत लोग अपने बच्चों को पहाड़ी दाइयों के सुपुर्द कर आते हैं, और उनके बड़े होने पर उन्हें अपने घर ले आते हैं।

कृष्णचन्द्र को गोकुल में अभीब हुत दिन न बीते थे कि एक पूतना नाम्नी 'राक्षसी' रात्रि को नन्द के घर में घुस आई और कृष्ण को उठाकर निज स्तन से दूध पिलाने लगी। उसके दूध में यद्यपि ऐसा विष भरा था कि यदि कोई दूसरा पीता तो मर जाता, परन्तु कृष्ण ने इतने वेग से उसके स्तन को मुख में लेकर खींचा कि वह चिल्ला उठी। उसकी चिल्लाहट से बहुतेरे नरनारी एकत्रित हो गए।

इस घटना की सत्यता यों प्रतीत होती है, कि कृष्ण जी "पूतना" नामक रोग में ग्रसित हो गये हैं। चिकित्सा के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुश्रुत' में 'पूतना' नाम एक भयंकर रोग का बताया गया है, जिसकी वेदना से छोटे बच्चे प्रायः मर जाया करते हैं (१)।

(१) इस घटना के विषय में पुराणों में बहुत मतभेद है जैसे विष्णुपुराण में लिखा है कि "पूतना" ने रात्रि में सोते हुए कृष्ण को उठाकर स्वस्तन से लगा लिया और दूध पिलाने लगी। चिल्लाहट सुन कर यशोदा जागीं इत्यादि इत्यादि।

भागवत की कथा यह है कि एक दिन जब यशोदा मन्दिर में विराजमान थी तो पूतना एक सुन्दर रूप धारण कर उसके पास जा बैठी और अपनी बातों से यशोदा को ऐसा मोह लिया कि चुपके २ कृष्ण को उसकी गोद से अपनी गोद में ले लिया और छातियों से दूध पिलाने लगी और हरिवंश पुराण में "पूतना" नाम एक पक्षी का कहा गया है।

वर्तमान समय की मिलावट का हाल इसी से प्रकट होता है कि इस घटना के पश्चात् यशोदा को बच्चे की रक्षा के हेतु टोने कराने पड़े। और मंत्र यंत्र तथा तावीज़ गले में लटकाने पड़े। कहाँ तो यह कहना कि वे ईश्वर थे और कहां उनकी रक्षा में टोने टोटकों की आवश्यकता हुई। सारांश यह कि

(२) दूसरी बात इस प्रकार है कि यशोदा कृष्ण को अपने छकड़े के नीचे लिटा कर आप वस्त्र धोने चली गई। कृष्ण सो रहे थे जब जागे और माता न मिली तो क्षुधा से व्याकुल हो रोने लगे और इतने जोर से लातें फेंकने लगे कि वह छकड़ा जिस पर घड़े इत्यादि रक्खे हुए थे उलट गया। जिससे सारे वर्तन नष्ट हो गए पर कृष्ण के चोट तक न आई और वे पुनः सो गये। जब यशोदा आई तो बच्चे सोता पाया। वह इस घटना को देख चकित हो गई। फिर उसने तथा नन्द ने मिलकर उन टूटे हुए घड़ों और बर्तनों की पूजा की और उन पर दही और फल फूल चढ़ाया। पाठक वृन्द! क्या आप ने नहीं सुना, कि किसी मकान की छत गिर गई और उसमें जो बालक सो रहे थे सही सलामत सोते हुए पाए गए। यदि ऐसी घटनाओं का खोज किया जाय तो बहुत मिलेंगी मकान के सारे सामान नष्ट हो जाने पर भी सोये हुए अबोध बालकों को कोई चोट नहीं लगी। शेष रही यह बात, कि कृष्ण जी की लात की चोट से छकड़ा उलटा पड़ा तो इसका यथेष्ट प्रमाण ही क्या है। और फिर भी यह कोई ऐसी अलौकिक वा असंभव घटना नहीं कही जा सकती। संभव है कि छकड़ा किसी ऐसी तरह रखा हो कि उस पर थोड़ा सा ठोकर लगने पर वह गिर पड़ा हो। अथवा किसी पशु ने गिरा दिया हो वा कोई अन्य कारण से गिर पड़ा हो।

(३) तीसरी घटना (१) यह है कि एक उड़नेवाला तृणावर्त

इनका परस्पर विरोध इनकी सत्यता को भली भांति प्रगट कर देता है।

(१) इस घटना के स्मारक में महावन में एक कोठरी बनी हुई है। जहाँ कृष्ण की मूर्ति बना कर उस पर दो परों की छाया डाली हुई है।

नाम का राक्षस (कदाचित् कोई पक्षी हो) उनको लेकर उड़ गया परन्तु बालक में इतना बोझ था कि तत्काल भूमि पर गिर पड़ा बच्चा तो बच गया पर वह स्वयं मर गया।

हम प्रति दिन ऐसी बातें देखते हैं, जिसमें परमात्मा बड़ी तत्परता से अबोध बालकों की रक्षा किया करते हैं। कई बार सूनने में आया है कि बालक छत से गिर पड़े हैं पर तनिक भी चोट नहीं लगी। तात्पर्य यह कि ये सारी घटनायें ऐसी हैं कि जिसमें से यदि कवियों की अत्युक्ति निकाल दी जाय तो फिर उनमें असंभवता रही नहीं जाती और न उन्हें अमानुषी ही कहने का साहस पड़ता है।

एक वर्ष पश्चात् वस्तुदेव ने अपने पुरोहित गर्ग को भेजा जिसने चोरी चोरी उनका नामकरण संस्कार कर दिया सुतरां रोहणी के बालक का नाम बलराम और देवकी के पुत्र का कृष्ण रक्खा गया।

ये दोनों बालक ज्यों ज्यों प्रौढ़ावस्था को प्राप्त होने लगे उनकी चंचलता और भी बढ़ती जाती थी। इनमें कृष्ण विशेष रूप से चतुर और चंचल थे। रेंगते रेंगते डंगरों में जा घुसते और छोटे छोटे बछड़ों से खेला करते। दूध दही के बरतन को उलट देते। जब तनिक टाँगों में बल आया तो इनके ऊधम ने और भी रंग पकड़ा। घर से निकल जाना, दूसरों के घरों में जाकर उपहास करना, बछवा वा गउओं की पूंछ खींचना इत्यादि बातें ऐसी थीं जो एक चंचल, चतुर तथा बुद्धिमान् बालक में हुआ करतीं हैं। और जिनसे तंग आकर उनके माता पिता वा शिक्षक उन्हें ऊधमी कहने लग जाते हैं क्योंकि उनको ऐसे चंचल बालकों को शिक्षा देने की विधि नहीं भाती। वे, स्वयं इन बातों से अनभिज्ञ होते हैं। इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि कृष्ण अपनी बाल्यावस्था, में बड़े चंचल तथा

ऊधमी थे। अपने कार्य्यों को बड़ी तत्परता से करते थे। भय तो इनके पास कभी फटकताही न था। उत्तर देने तथा हंसी ठट्ठें में भी वैसे ही प्रवीण थे। इनके हँसी ठट्ठे के विषय में पुराण में तो यहाँतक लिखा है कि वह पड़ोसियों का दूध पी जाते थे, दही खा जाते थे और यदि इस बीच में कोई आ जाता तो दूर से हँसने लग जाते। सारांश यह कि कृष्ण अपने समकालीन बालकों से प्रत्येक बात में बढ़े चढ़े थे। गोप बालकों की मंडली में बैठे हुये वा फिरते हुए भी एक विचित्र आनबान रखते थे और अपने साथियों में सरदारी और बड़प्पन का पद रखते थे।

निडर ऐसे थे कि कैसी भी मरहकी गाय वा सांड़ क्यों न हो न डरते, भेड़ियों वा अन्य जंगली जानवरों से निर्भय होकर बन में विचरा करते थे। यशोदा यत्रतत्र खोजा करती. इन्हें देखते ही बिजली की तरह वे कहीं छिप जाते। कभी यमुना में जा घुसते। रातको जब सो जाते तो वह समझती कि आज का दिन कुशल से बीता। पर इतना चंचल होते हुये भी वे सबको प्रिय थे। क्योंकि एक तो वे ऐसे रूपवान थे कि सब छोटे बड़े उनपर प्रेम रखते, दूसरे उनकी चंचलता मानों एक मोहनी थी जो कठोरतम हृदय को भी शांत करके हँसा देती थी। तीसरे अपने साथियों में वे बड़े सर्वप्रिय थे। उनकी बातें सब मानते। उनसे पृथक होना उन्हें अतीव दुखमय मालूम पड़ता। वे दिनभर उन्हें अपनी हास्यप्रद वार्ताओं से हँसाया करते। नृत्यविद्या में ऐसे कुशल थे कि देखने वाले हँसते हँसते लोट जाते। उनकी बन्शी ऐसी मधुर थी कि बाल्यावस्थामें गड़रियों के गीत गा करके भीड़ अपने पास एकत्रित कर लेते, कुछ बड़े होने पर बंसी बजाने में प्रवीण होगए थे। इनके सब गुणों ने उस जंगली जाति को ऐसा मुग्ध कर लिया था कि वे उनके

भक्त होगए थे। कृष्ण ने गड़रियों, चरवाहों, किसानों तथा जिमींदारों के बीच ऐसे गुण प्रगट किए जिससे प्रत्येक छोटा बड़ा उनकी ओर आकर्षित होने लगा।

समय परिवर्तन ने उन्हें राजप्रसादों के बदले फूस की झोपड़ियों का मुँह दिखलाया। सुन्दर २ सवारियों के स्थानमें छकड़े की सवारी दी। धनुष बान तथा ढाल तलवार के बदले गाय हांकने का डंडा हाथों में पकड़ाया। बहुमूल्य सुंदर सुंदर वस्त्राभूषण न देकर तन ढकने को एक लंगोटी दी। शस्त्रविद्या से युद्ध करने की शिक्षा की अपेक्षा वन्य पशुओं से मल्लयुद्ध करना सिखाया। और संगीत शास्त्रज्ञों से शिक्षा न दिलाकर देहाती वंशी पर संतोष कराया। कुटिल काल! तू बड़ा प्रबल है तेरे हथकंडों से न कोई बचा है और न बचेगा।

पर ये उपरोक्त बातें उन्हें ऐसी पसन्द आई और उन्होंने अपनी विपत्ति से ऐसा लाभ उठाया कि उन सब कठिनाइयों ने उनकी स्वाभाविक सौजन्यता तथा जातीय कुलीनता को और भी निर्मल बना दिया।

उन गोपों की मंडली में किसी २ को ही यह मालूम था कि इस चञ्चल लड़के के वेष में एक राजकुमार का पालन हो रहा है, जो समर्थ होकर अपने माता पिता के शत्रुओंका शिरोच्छेदन करेगा। जो अपने देश और अपनी मातृभूमि को अत्याचारी कर्मचारियों के पाश से मुक्त कर उनका उद्धार करेगा। जो फिर विद्या और शास्त्र की शिक्षा पाकर उच्चतम धर्म का उपदेश करेगा और अन्त में अपने पीछे अपना शुद्धाचरण छोड़ जावेगा कि लाखों वर्ष तक लोग उसको परमेश्वर की उपाधि देकर उसका पूजन करेंगे।

बिचारी यशोदा कृष्ण के ऊधम से ऐसी घबड़ा गई थी, कि उसने हार मान कर एक दिन कृष्ण की कमर में रस्सी

बाँध दी और उस रस्सी को लकड़ी की एक ओखली से बांध दिया पर ज्यों यशोदा ने पीठ मोड़ी कि कृष्ण ने रस्सी तोड़ना आरम्भ किया और ऐसा ज़ोर लगाया, कि ओखली को भी साथ खींच ले चले। उनके आँगन में *अर्जुन के दो वृक्ष थे, जिसमें ओखली फँस गई। लोग कहते हैं कि जब कृष्ण ने दूसरी बार ज़ोर लगाया तो दोनों वृक्ष जड़ से उखड़ कर गिर पड़े। जिसपर इतना कोलाहल मचा कि सारा गांव उमड़ आया। कृष्ण लोगों को देख कर हँसने लगे। हम नहीं कह सकते कि इस घटना में कहां तक सत्य है। पहिली बात तो कुछ असम्भव सी नहीं जान पड़ती पर दूसरी बात अर्थात् एक छोटे से बच्चे के बल से दो बड़े वृक्षों का जड़ से उखड़ जाना कदापि सम्भव नहीं। हाँ, यदि उन्हें बड़े वृक्ष की अपेक्षा छोटा पौधा मान लें तो झगड़ा मिट जाता है पर ऐसा जान पड़ता है कि कृष्ण के भक्तों ने इन पौधों को अत्युक्ति से बढ़ाते २ ऐसे बड़े वृक्ष की पदवी प्रदान कर दी है जिनके बोझ से आधा गाँव दब गया।

अवतारों की अमानुषी शक्ति के मानने वालों के लिये (चाहे वे किसी जाति के हों) इन सब कथाओं को सब प्रकार से सत्य मान लेने में कुछ सन्देह नहीं होना चाहिये, हां वे महाशय जो उनकी अमानुषी शक्ति को नहीं मानते हैं वे अपने लिये आप परिणाम निकाल लेंगे।

---

* यह वर्णन विष्णुपुराण में नहीं है। मिस्टर पाल जिन्होंने अंगरेजी में कृष्ण-जीवनी लिखी है, लिखते हैं कि अर्जुन एक छोटे से पेड़का नाम है जिसको अंगरेजी और बंगला में कोंची कहते हैं।

पंचम अध्याय।

गोकुल छोड़ वृन्दाबन जाना।

इसी प्रकार गोकुल में रहते जब कुछ समय व्यतीत होगये तो गोपों ने अपने जातीय स्वभावानुसार अपना निवासस्थान बदलना चाहा और गोकुल से कुछ दूरी पर एक बन पसन्द किया, जिसका नाम वृन्दाबन रक्खा* गया। गोपों ने गोकुल में मिट्टी वा ईंट के गृह तो बनाए नहीं थे जो उन्हें उनके छोड़ने में कठिनता होती। यह विचार करते ही सारी आबादी अपना डेरा डंडा उठा अपने छकड़ों और डंगरों को आगे हांक वृन्दाबन की ओर चल दिए और वहां जाकर गोकुल की तरह एक घेरा डालकर छोटीसी बस्ती बना ली। ऐसा जान पड़ता है कि वृन्दाबन को चरी तथा घास इत्यादि की अधिकता के विचार से पसन्द किया था। स्थानों का यह परिवर्तन हरएक

* जंगलों में भ्रमण करने वाले ये जातियां यदि स्थिर होकर एक स्थान में रह जावें तो फिर वे अनस्थिर जातियां न कहलायें और दूसरी जातियों के सदृश शहरों व देहातों की आबादियों में मिल जावें और न इस कदर डंगर रख सकें जितने कि वह इस अवस्था में किसी खर्च के बगैर रख सकती हैं। यह जाति इसी में प्रसन्न रहती है कि किसी स्थान पर सर्वदा के लिये न रहे अपने इच्छानुसार समय समय पर घर बदला करती हैं। जब किसी एक जगह से उनका जी ऊब जाता है या वहां पर उनके डंगरों के लिये पूरी हरियाली नहीं रहती तो वह उसी समय अपना डेरा उठा किसी अन्य स्थान पर झोपड़ी डाल देती हैं। हरिवंश पुराण में इस स्थान व गृहों के बदलने का कारण यह लिखा है कि गोकुल में भेड़ियों की अधिकता से गोप लोगों ने अपने जान व माल के रक्षणार्थ इस स्थान को त्याग देना आवश्यक समझा।

प्रकार से कृष्ण के अनुकूल हुआ । अर्थात् उनकी वंशी की सुरीली गूंज से सारा वृन्दावन गूंजने लगा । निकटस्थ बन वाटिका का कोई स्थान कृष्ण और उनके साथियों से छिपना रहा। जहाँ लहलहाती हरियाली देखते वहीं डंगर हांक ले जाते। डंगर हरी घासों से पेट भरते और आनन्द पूर्वक स्वच्छ वायु में अठखेलियां करते। दूसरी तरफ ये लड़के किसी छाये में बैठ गाने बजाने का आनन्द लूटते। सन्ध्या को अपने डंगर हाँकते हुए अपने ग्राम में आ जाते। भोजनानन्तर बाल व वृद्ध सभी एकत्र होते और कृष्ण की बंशी सुनते। युवा और युवतियां तो कृष्ण की बंशी पर ऐसी मुग्ध थीं कि जब वह बंशी बजाते तो इनके दल के दल एक वृत्त बना कर उसके गिर्द नाचते और चक्कर लगाते और बाकी सब तमाशा देखते।

जंगल में जब कभी कोई बनैला पशु मिल जाता तो सबके सब मिल कर उसका पीछा करते और या तो उसको मार डालते या भगा देते। ऐसी घटनाओं का पुराणों में प्रायः बर्णन किया है। हम उनमें से कुछ को यहां उद्धृत करते हैं :—

(१) एक दिन कृष्ण और बलराम अपने साथियों सहित डंगर चरा रहे थे। साथियों में से किसी लड़के ने कहा कि इस बन में एक जगह खजूर (वृक्ष विशेष) का कुंज है जिसमें बड़ी २ और मीठी खजूरें (फल) लगी हुई हैं। पर उस कुंज के मध्य भाग में एक भयङ्कर पशु है । जिसके भय से वहां कोई नहीं जाता। यह सुन कृष्ण और बलराम वहां जाने पर तत्पर होगए। और वहां जाकर ईंट और पत्थर चलाने लगे, ईंट और पत्थर की भरमार से वह पशु चौंक पड़ा और भयभीत हो बाहर निकला (पुराणों में इस पशु का नाम दहनक है, और शकल गदहे की लिखी है) और जब वह सामने आया तो

लड़कों ने उस पर ढेलों की वर्षा आरम्भ कर दी । जिसके आघात से वह शीघ्र ही मर गया ।

(२) ऐसे ही अरिष्ट नामके सांड से लड़ाई का वर्णन है ।

(३) तीसरी लड़ाई केशी नाम के घोड़े से हुई । और कृष्ण ने उसपर जय प्राप्त किया । फिर एक लड़ाई (कालिया नाग) से हुई ।

कहते हैं कि यमुना के एक भाग में जहाँ एक झील सी बन गई थी कालिया नामक एक नाग रहता था जिसके भयसे कोई उधर फटकने नहीं पाता था । कृष्ण एक दिन संयोग से वहां जा पहुँचे और कालिया ने उन्हें आ घेरा । कृष्ण उससे भिड़ गए और कुछ देर युद्ध होने पर कालिया घायल होकर भाग निकला* ।

पुराणों में इन्हीं घटनाओं को अमानुषी मानते हैं और इन पशुओं को "दैत्य वा राक्षस" लिखते हैं पर हमें तो इनमें कोई ऐसी असाधारण बात नहीं मालूम देती जो हमें इन घटनाओं को मनुष्य कृत मानने में तनिक भी बाधा डालती हो । गाँव में

इसके दो अर्थ हो सकते हैं:—

*पहला यह कि यमुनाके किसी भाग में "कालिया" नामक कोई सर्प रहा हो और कृष्ण ने उसे वहां से भगा दिया ।

दूसरा यह कि नाग वंशका कोई सरदार "कालिया"नामक वहां रहता था । जो गोपों को कुछ हानि पहुँचाता था, कृष्ण ने इस सरदार को लड़ाई में पराजित कर उस जंगल से भगा दिया हो ।

मि० पाल यही दूसरा अर्थ लगाते हैं क्योंकि पुराणों में कालिया को मनुष्य माना है और उसकी स्त्रियों की कान की बालियां तथा दूसरे आभूषणों का वर्णन किया है ।

डंगर चराने वाले लड़कों से प्रत्येक दिन ऐसी घटनायें हुआ करती हैं, ग्रामीण बालकों की मंडली में कृष्ण और बलराम का अध्यक्ष बन जाना कौन सी बड़ी बात थी।

एक क्षत्रिय कुलोत्पन्न राजकुमार जिसको विधाता ने राज्य करने के निमित्त पैदा किया वह काल की कुटिल गति से ग्रामीण चरवाहों की मंडली में आ गिरा था। यदि वह एक छोटी सी बस्ती में सबका शिरोमणि बन जाये तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। यदि उस पुरी में उसकी तूती बोलने लगे तो यह कोई आश्चर्यजनक नहीं थी। सारा बन उसके मधुर गान से गूंज उठा। सारे बनमें उसके नीरत्व की सराहना होने लगी। गड़ेरियों और ग्वालों के लड़कों पर कृष्ण और बलराम राज्य करने लगे। ये दोनों राजकुमार जंगली बालक-सेना के सेना-पति बन बैठे, ये उनकी बनावटी लड़ाइयां आगे का परिचय देती थीं जब कि उन्हें सचमुच युद्ध की रचना करनी होगी, उनकी हृदयहारिणी वाणी मानों उस वशीकरण के सदृश थी जिससे उन्होंने सारी सृष्टि को अपने वश में कर लिया था और जिससे स्वर्ग का द्वार खुल गया और मोक्ष का मार्ग सुगम हो गया था। जिस बालक ने बाल्यावस्था में बनैले पशुओं को वध करके मनुष्य का उपकार करना सीखा हो वह प्रौढावस्था में अत्याचारी दुष्टात्माओं को अनुचित कार्य्य करने से कैसे न रोकता। वह अपने अन्त समय तक यही शिक्षा देता रहा कि दुष्टों को चाहे ये पशु हों वा मनुष्य सदा दण्ड देते रहना चाहिये जिससे परमेश्वर की अबोध प्रजा उनके अत्याचारों से सुरक्षित रहे।

षष्ठम अध्याय ।

रास लीला ।

हिन्दुओं में कृष्ण के नाम पर एक संस्था प्रसिद्ध है जिसे रासलीला कहते हैं। इस रासलीला से अनेक मिथ्या बातें जन साधारण में फैली हुई हैं। जिससे कृष्ण के निर्मल नाम और यश पर एक प्रकार का लाञ्छन लगता है। यहां तक कि उसी आशय पर कृष्ण को विषयी और दुराचारी बताते हैं। लाखों हिन्दू तो कृष्ण का नाम केवल रासलीला के सम्बन्ध से जानते हैं। वे न कृष्ण की उच्चशिक्षा–भिज्ञ हैं और न उनको यह ज्ञात है कि कृष्ण ने अपने जीवनकाल में स्वदेश के लिए क्या २ कार्य किए हैं और इतिहास उनको किस प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखता है। वह केवल उस कृष्ण से परिचित हैं और उसी की पूजा अर्चना करते हैं जो रासलीला में गोपियों के साथ नाचता और गाता था।

इस 'संस्था' में जहां तक सत्य का लेश है वह इसको जहां तक श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बन्ध है उसे हम पिछले अध्याय में दिखा चुके हैं। इससे अधिक वा इसके अतिरिक्त जो कुछ कहा जाता, या किया जाता है, अथवा सुना जाता है वह मिथ्या है।

स्मरण रखना चाहिये कि कृष्ण और बलराम १२ वर्ष से अधिक गोप लोगों में नहीं रहे। १२ वर्ष की अवस्था में वा उसके लगभग अथवा उससे कुछ पश्चात् वे मथुरा में चले आए और फिर यावज्जीवन उनको कभी गोकुल व वृन्दावन में जाने का अवकाश न मिला, यहां तक कि उन्हें मथुरा भी छोड़नी पड़ी। ऐसी दशा में यह सोचने योग्य बात है कि गोपियों से प्रेम या सहवास करने का उन्हें कब वा किस आयु में अवसर मिला होगा।

सुतरां वह उन सब अत्याचारों के कर्त्ता कैसे कहे जा सकते हैं जो उनके नाम से रासलीला वा ब्रह्मोत्सव में दिखाये जाते हैं। हिन्दुओं की सामाजिक अधोगति की यदि थाह लेना हो तो केवल ब्रह्मोत्सव देख लेना पर्याप्त होगा। संसार की एक ऐसी धार्मिक जाति जिसकी धर्मोन्नति किसी समय जगद्वि-ख्यात थी, आज अपने उस धर्म पर यों उपहास करने पर उतारू हो गई है कि धर्म के नाम पर सहस्रों पाप करने लगी है और फिर आड़ के लिये ऐसे धार्मिक महान् पुरुष को चुन लिया है। जिसकी शिक्षा में पवित्र भक्ति कूटर कर भरी हुई है।

बड़े खेद की बात है कि हमने अपने महान् पुरुषों का कैसा अपमान किया है। कदाचित् वह इसी पाप का फल है कि हम इस अधोगति को प्राप्त हुए हैं; कोई हमारी रक्षा नहीं करता।

रासलीला का यथार्थ चित्र तो यों है कि वर्षा की ऋतु है। हर तरफ हरियाली ही दृष्टिगोचर होती है एक प्रशस्त मैदान में मीलों तक घास पात वा वनस्पतियों के अतिरिक्त और कुछ दीख नहीं पड़ता। वृक्षों में फूल खिले हुए हैं और फल लटक रहे हैं। प्रकृति देवी का यौवन-काल है। आकाश मंडल मेघों से घिर रहा है। मेघों का रह रह के मधुर स्वर से गरज जाना कानों को कैसा भला लगता है, कभी २ बिजली ऐसे वेगसे इधर से उधर कड़क जाती है जिससे सारी पृथ्वी प्रकाशमय हो जाती है। मेघ धीरे २ बरस रहा है, पक्षिगण वृक्षों पर किलोल कर रहे हैं और उन्मत्त होकर पानी में स्नान कर रहे हैं। पत्तों पर पानी की बूंदे मोतीसी दीख पड़ती हैं, और हाथ लगाते ही चूर २ हो जाती हैं, वायु के झोकों से वृक्ष जिस समय झूमने लगते हैं और उनसे पानी टप टप च्यूने लगता है तो जान पड़ता है कि मानों अपनी प्रिया की चाह में आँसू बहा रहे हैं। उनके आँसूओं की बूंदे जिन पर पड़ती हैं

उनके अशान्त तथा संतप्त हृदय को ठंडक पहुँचाती हैं। ऐसे सुहावने समय में प्रकृति मनुष्य के चित्त को चंचल कर देती है दुराचारी मनुष्य अपनी अपवित्रता में उन्मत्त प्रकृति देवी के इस पवित्र सौन्दर्य पर हस्तक्षेप करने लगते हैं पर लज्जावश मनुष्य दृष्टि से छिपकर केवल कुछ मित्रों में ही ऐसा करने पाते हैं। परन्तु जन साधारण का हृदय अपनी सरलता में यों ही उछला पड़ता है। ऐसे सुहावने समय में प्रत्येक मनुष्य की कवित्व शक्ति उत्साहित हो गाने बजाने की ओर आकर्षित होती है। गोपों की छोटी सी मंडली अपनी प्राकृतिक उपवन में वही आनन्द मंगल से गाने बजाने में मग्न है। बालक कृष्ण को वंशी बजाने की बड़ी इच्छा है। उसने इस विद्या में प्रवीणता प्राप्त की है, जब वह बंशी बजाता है तो उसके चारों ओर भीड़ लग जाती है। गोपों के लड़के और लड़कियाँ वृत्त बनाकर उसके चहुँओर खड़े हैं। और नाचना और गाना आरम्भ करते हैं। इस मंडली में जिसे देखिये वही इस रंग में रंगा हुआ दीख रहा है। ऐसे समय में कृष्ण भी वंशी बजाता बजाता नाचने लगता है। बस यही रासलीला है और यही रासलीला की विधि है।

पाठक वृन्द! यथार्थ तो बस इतना ही था कि जिस पर हमारे पौराणिक कवियों ने ऐसी २ युक्तियाँ लगाई कि बस पृथ्वी और आकाश को एक कर दिया। इन तांत्रिक कवियों ने ृष्ण का ऐसा चित्र खींचा है कि यदि उसका सहस्रांश भी सत्य हो तो हम यह कहने में तनिक भी न सकुचायेंगे कि कृष्ण अपने जीवन के इस काल में बड़ा विषयी और कामातुर था। आज कल के पौराणिक विद्वानों पर भी इस बात की पोल खुल गई है और वह इन प्रेम प्रहसनों से परमेश्वरीय प्रेम का सार निकालने की चेष्टा करते हैं। पर हमारी समझ में

यह चेष्टा वृथा हैं। क्योंकि जब हम देखते हैं कि विष्णुपुराण में न राधा का वर्णन है और न गोपियों के संग कृष्ण की मुंह-ज़ोरियों का ही कुछ इशारा है और न चीरहरण की ही कथा है। हरिवंश और महाभारत में भी इन बातों का कहीं वर्णन नहीं। यह सारी कथाएँ ब्रह्मवैवर्त और भागवत पुराण के कर्ताओं की गढ़न्त हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण वल्लभाचारी गोसाइयों का बनाया है, जिन्होंने देश में धर्म की आड़ में कैसा जाल रच रक्खा है, और अकथनीय अत्याचार * किया करते हैं। उन्हीं के एक चेले नारायन भट्ट ने "व्रजयात्रा" और रासलीला की नींव डाली। जितनी पुस्तकें राधा के प्रेम विषय के मिलती हैं वह प्रायः सब इसी पंथ के गोस्वामियों की रची हुई हैं।

परमेश्वर जाने इन लोगों ने कृष्ण के जीवन को क्यों कलङ्कित कर दिया है। पर जब उससे पहिले के ग्रन्थों में इन बातों का कहीं वर्णन नहीं पाते तो इन पर विश्वास करने का हमें कोई कारण नहीं दीखता।

दूसरे कई एक पुराणों के अनुसार कृष्ण की अवस्था उस समय जब (वह मथुरा में आये हैं) १२ वर्ष की थी एवं यह

*जैसे पुराणों में एक कहानी है कि राधा की सहेली मानवती का विवाह एक बुढ़िया के पुत्र से हुआ। कृष्ण मानवती को देखकर कामातुर हो गये और अपनी मनोकामना पूरी करने पर तत्पर हुए, जिसके लिये अपनी ईश्वरीय प्रभुता काम में लाकर बुढ़िया के पुत्र का वेष धारण किया और उसके घर में जा घुसे और बुढ़िया को यह पट्टी पढ़ा दी कि तू द्वार पर बैठ और यदि कोई भीतर आना चाहे तो न आने दे। यदि कोई तेरे बेटे का वेष बदल कर आवे और कहे कि मैं तेरा बेटा हूँ—तो भी तू द्वार न खोलना। और स्वयं मानवती के सहवास का आनन्द लूटता रहा (देखो बाउन साहब की पुस्तक मथुरा)

कैसे संभव हो सकता है कि १२ वर्ष की अल्पायु में उससे यह सब बातें प्रकट होती और उसके पास तरुण स्त्रियां भोग विलास की इच्छा से आतीं और कामातुर हो उससे अपना सतीत्व नष्ट करातीं। तीसरे महाभारत में प्रायः ऐसे स्थान आये हैं जहाँ कृष्ण को उनके शत्रुओं ने अनेक दुर्वचन कहे हैं और उसके जीवन के सब दोष गिनाये हैं, जैसे राजसूययज्ञ के समय शिशुपाल क्रोध में आकर कृष्ण के अवगुण बताने लगा है और उसके बचपन के सब दोष कह गया है पर दुराचार वा विषयी होने के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। क्या संभव था कि कृष्ण की जीवनी यों गंदी हो (जैसा कि ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है) और शिशुपाल क्रोध वश सभा के बीच उसके सब छोटे बड़े अवगुण प्रगट करे; और इसका (जो महा-दोष कहा जा सकता है) वर्णन तक न करे। वही अवसर तो उनके प्रगट करने का था क्योंकि भीष्म पितामह ने सारी सभा में उसी को उच्चासन देना चाहा था।

कृष्ण उनका समकालीन था यदि वास्तव में कृष्ण में ये दोष होते तो यह कैसे संभव था कि ऐसे २ धर्मात्मा महान् पुरुष उसका ऐसा सम्मान करते और सारे आर्य्यावर्त में उसका यों मान होता। संस्कृत के प्रायः पुस्तकों में कृष्ण को 'जितेन्द्रिय' लिखा है। "जितेन्द्रिय" उसको कहते हैं जिसने अपनी इन्द्रियों को अपने वशीभूत कर लिया हो। यदि कृष्ण को वास्तव में राधा वा मानवती से प्रेम था तो इन पुस्तकों में उसे जितेन्द्रिय क्यों लिखते ? अब रासलीला में नाचने के विषय में प्राचीन ग्रन्थों से ऐसा प्रतीत होता है, कि उस समय वृत्त बनाकर नाचने की चाल सारे भारत में थी वरन् बहुत से ग्रंथकार तो कहते हैं कि स्त्री पुरुष मिलकर नाचते थे जैसे कि आजकल अङ्गरेज़ों में प्रचलित हैं।

हाँ 'चीरहरण लीला की कथा भागवत में है, विष्णुपुराण, महाभारत और हरिवंश में इसका वर्णन नहीं है। आजकल के पौराणिक पंडित तो इसको वाक्यरचना बतलाते हैं। इसकी कथा इस प्रकार है कि एक दिन गोपियां किसी सरोवर में स्नान कर रही थीं। उनके वस्त्र किनारे पर रक्खे थे। कृष्ण संयोग से वहाँ आ पहुँचे वा इसी ताक में छिपे बैठे थे, उन वस्त्रों का अपहरण कर भागे और एक वृक्ष पर जा चढ़े। जब गोपियां स्नानान्तर जल के बाहर आईं तो अपना २ वस्त्र नहीं पाया। इधर उधर ढूंढ़ने पर कृष्ण को वस्त्रों की एक मोटरी बनाये हुए वृक्ष पर बैठे देखा।

तत्पश्चात् गोपियां अपना २ वस्त्र उनसे मांगने लगीं और हाथ जोड़ कर प्रार्थना करने लगीं। पर कृष्ण ने कहा कि "मेरे सामने नंगी आओ तो दूँगा"। सुतरां उन सबों के नंगी वस्त्रहीन सामने आने पर उनके वस्त्र लौटा दिये। आधुनिक पौराणिक टीकाकार इसका सार यों निकालते हैं कि यहां पर कृष्ण शब्द परमेश्वर के लिये प्रयोग हुआ है। यमुना से तात्पर्य परमेश्वर का प्रेम, गोपियों के वस्त्र से मुराद सांसारिक पदार्थ हैं। अब उपरोक्त कथा से यह भाव निकलता है कि परमात्मा के प्रेम में मग्न होकर मनुष्य को चाहिये कि किसी सांसारिक पदार्थ का विचार न करे वरन् उनका ध्यान छोड़ दे। पर खेद है कि मनुष्य प्रेम की नदी में स्नान करके भी उन्हीं पदार्थों के पीछे दौड़ता है। परमात्मा उसे पश्चात्ताप दिलाने के हेतु उन पदार्थों को उठा लेता है जिनसे उसे सम्बन्ध है। यहां तक कि वह (मनुष्य) अपने इष्ट पदार्थों के लिये कोलाहल मचाता है। परमात्मा उसकी पुकार सुन कर उसे अपने समीप बुलाता है। जब वह वस्त्रहीन आने में संकोच करता है तो परमात्मा उस को यह उपदेश करता है कि मेरे पास नग्न (नंगा) आने में न

सकुचा) आने में अपना तन वस्त्र से ढकने की आवश्यकता नहीं। अपने को सांसारिक पदार्थों से पृथक् करके मेरे पास आ। तब मैं तेरी सारी कामनायें पूरी करूंगा और तब ढकने को वस्त्र दूंगा।

यह बात चाहे कितना ही उत्तम क्यों न हो पर इसके भाव में भ्रम पड़ने की आशङ्का है। यदि इन सब कथाओं में ऐसी अत्युक्ति बांधी गई है तो हमारी राय है कि इन्हीं अत्युक्तियों ने हिन्दुओं को बड़ी हानि पहुँचाई और उनके आचार व्यवहार को भी बिगाड़ दिया है। परमेश्वर के लिये अब उनको छोड़ो और सीधी रीति से परब्रह्म परमेश्वर के सम्मुख उपस्थित होकर भक्ति और प्रेम के फूल चुनो। कमसे कम कृष्ण जैसे महान् पुरुष को कलङ्कित न करो यदि और किसी विचार से नहीं तो अपना पूज्य और मान्य समझ कर ही उस पर दया करो। उसे पाप कर्म का नायक न बनाओ। और उन महानु-भावों से बचो जो इस महान् पुरुष के नाम पर तुम्हारा व्रत बिगाड़ रहे हैं और तुमको और तुम्हारी ललनाओं को नरकगामी बनाते हैं।

सप्तम अध्याय

कृष्ण और बलराम का मथुरा में लौटआना और कंस का उन के हाथ से मारा जाना।

अन्ततः यह कब तक संभव था कि यादव वंश के दो राज-कुमार यों गड़रियों के वेष में छिपे रहते और कभी पहिचाने नहीं जाते। कस्तूरी चाहे कितने ही बेठनों में क्यों न लपेट कर रक्खी जावे; पर उसकी गन्ध छिपाये नहीं छिप सकती। वैसे

ही कृष्ण और बलराम का नाम धाम भी कब तक गुप्त रह सकता था। उनकी आकृति और उनका चाल चलन उनके वंश का परिचय देती थी। उनका प्रशस्त कपोल और विशाल नेत्र पुकार पुकार के कहते थे कि ये दोनों लड़के जन्म से गोप नहीं हैं और न दूध घी वा मक्खन विक्रय इनकी जीविका है। जब इस तरह रहते रहते कुछ दिवस व्यतीत हो गये और उनके पराक्रम और शूरता की कहानियां दिग्दिशाओं में फैलने लगीं तो धीरे २ यह प्रगट होने लगा कि ये लड़के गोप नहीं हैं।

इसी प्रकार कंस के कानों तक भी यह बात (१) पहुँच गई। और उसे तत्काल यह शंका उत्पन्न हुई कि हो न हो यह दोनों लड़के बसुदेव के हैं जो उसके चोरी से गोपों के बीच पले हैं। कुछ दिवस उपरान्त उसे इसका विश्वास हो गया और तत्पश्चात उसको चिन्ता लगी इन दोनों को यमलोक पहुँचाओ। जिसमें फिर कोई खटका न रह जाय। संसार के इतिहास में कंस जैसे सैकड़ों अत्यचारियों का पता चलता है जिन्होंने राज्य के लिये अपने वंश का विध्वंस कर डाला था। उनके क्रूर खड्ग ने न तो बच्चे को छोड़ा है और न (२) बूढ़े को जिन्होंने इसी तरह अपने किसी वीर शत्रु से छुटकार पाने के लिये उनको शेर वा किसी हाथी से मल्लयुद्ध कराया है।

---

(१) विष्णुपुराण कहता है कि नारदजी ने कंस को बहकाया कि वे दोनों लड़के वसुदेव के हैं। इधर तो कंस को यों बहकाया कि जबतक ये दोनों लड़के जीवित हैं तब तक तेरा राज्य सुरक्षित नहीं उधर कृष्ण और बलराम को बदला लेने पर तत्पर किया।

(२) हजरत मूसा की बाल्यावस्था की भी ऐसी ही अनेक कहानियां प्रसिद्ध हैं।

मुसलमान और राजपूतों के इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त (१) मिलते हैं। पाठक ! आप कुछ पृष्ठों को खोलिये और विचारदृष्टि से देखिये कि वह जगत पिता जगदीश्वर कैसा न्यायकारी है। और अपने निर्बल और पीड़ित प्रजा की किस तरह रक्षा करता है ? वह उन्हें ऐसी सहन शीलता प्रदान कर देता है कि वे प्रत्येक कष्टों को सहन करके अपने को बचा लेते हैं। और इन पर अत्याचार करने वाले दुष्टात्मा शक्तिशाली होते हुए भी उन्हीं के हाथों नीचा देखते हैं।

कृष्ण और बलराम का संदेश सुनकर कंस को निश्चय हो गया कि अब मेरा अन्त समय आ पहुँचा। उसे अब भास हो गया कि जो आगमबाणी देवकी के विवाह के समय हुई थी उसके पूरा होने का समय अब आ पहुंचा है। दुष्ट कंस ! तू किस नींद सो रहा है। तेरे क्रूर हाथ से सृष्टि को छुड़ाने वाला तुझ से बदला लेने वाला अब आ पहुँचा। तेरी सारी युक्तियां उसका बाल बांका करने में असफल हुईं। यद्यपि उसके बध करने की इच्छा में तू ने सैकड़ों अबोध बालकों का बध कर डाला पर जिस को बचाना मंजूर था उसे विधाता ने बचा ही लिया।

राजशाही महलों में न पल कर प्रकृतिरूपी प्रसादों में परवरिश पाई और जंगली जानवरों के पड़ोस में प्रकृति ने उसे उन क्रूर बातों की शिक्षा दी जो दुष्टों के वध करने के लिये

(१) कर्नल टाडने ऐसी अनेक कहानियां लिखी हैं। उनमें से एक मुकुन्दलाल राठौर की है जिसको औरंगजेब ने जीवित शेर के पिंजरे में बन्द कर दिया था। जंगल का शेर राजपूतनी के बच्चे से आंख न लड़ा सका। और मुकुन्दलाल सही सलामत पिंजरे से निकल आया— वह भी अकेला बिना किसी शस्त्र के शेर पर विजयी हुआ।

बहुत आवश्यक है। सारी बाल्यावस्था में वह यही शिक्षा पाता रहा कि अपने शत्रु पर दया करना धर्म नहीं। समय ने उसको दुष्टों के लिये निर्दयी बनाकर उससे वह काम कराया। जिससे बचने के लिये उसके सारे भाई बहनों का बध हुआ था। पाप और अहंकार के वशीभूत होकर कंस ने कभी विचार भी नहीं किया कि जिसको परमात्मा बचाना चाहता है उसे संसार की कोई भी शक्ति नहीं मार सकती।

सारांश यह कि कंस अब उनके बध को तय्यार हुआ और इस बार उसने यह उपाय सोचा कि चतुर्दशी के दिन जो दंगल हुआ करता है उसमें कृष्ण और बलराम को निमन्त्रण दिया जाय और यादव वंश के एक माननीय सरदार अक्रूर को उन को लेने के लिये भेजा। विष्णुपुराण में लिखा है कि प्रस्थान के समय कंस ने अक्रूर से अपनी भीतरी मनसा कह दी थी। यह सच हो अक्रूर जिस समय वृन्दावन में पहुंचा और उसकी दृष्टि दोनों भाइयों पर पड़ी तो वह उनके रूप राशि पर मुग्ध हो गया और उनपर द्रवीभूत हो उन्हें यथार्थ भेद बता दिया। कंस से लोग ऐसे पीड़ित हो रहे थे कि कदाचित् अक्रूर ने कृष्ण और बलराम को कंस के विपरीत बहका दिया हो तो इस में सन्देह नहीं पर फिर भी यह भेद जान कर उनके हृदय में भय न हुआ और गोपों को साथ लेकर अक्रूर के साथ मथुरा को चले और सूर्यास्त के बाद वहां पहुंचते ही पहिले कंस के धोबी से उनकी मुठभेड़ हुई। उसने कुछ नीचता से व्यवहार किया। यहां तक कि विवाद बढ़ गया और वह उनके हाथ से मारा गया। इसके पश्चात् उनका ऐसा दबाव बैठ गया कि जिस वस्तु की उन्होंने इच्छा की सब उन्हें मिलती गई।

* कहते हैं कि कृष्ण बलराम आदि भ्रमण कर रहे थे। उन्होंने दरबारमें जाने के लिये धोबी से वस्त्र मांगा और इसी पर विवाद बढ़ा।

उधर कंस ने यह आज्ञा दी कि जिस समय कृष्ण और बलराम दंगल में पैर रक्खें उसी समय एक मस्त हाथी उनके पीछे छोड़ दिया जाय। यदि इस हाथी से वह बच निकलें तो फिर राज्य के दो बड़े पहलवानों से उनका मल्लयुद्ध कराया जाय। दूसरे दिन ऐसा ही हुआ जब दोनों भाई दंगल में उतरे तो एक उन्मत्त हाथी उन पर छोड़ा गया। उन्होंने बड़ी वीरता से उसका सामना किया और उसको मार के आगे बढ़े। तत्पश्चात् दो बड़े बलिष्ट पहलवान उनसे मल्लयुद्ध के लिए सामने आए। दंगल के चारों ओर भीड़ भीड़ की भरमार थी। स्वयं महाराज एक मंडप के नीचे विराजमान थे। रानियां अलग एक मंडप में से कौतुक देख रही थीं। सेना और प्रजा अपने २ स्थान पर विराजमान थीं। एक ओर वसुदेव और देवकी बैठे अपने प्रिय पुत्रों की जीवन रक्षा के हेतु प्रार्थना कर रहे थे। उनके समीप ही वृन्दावन के गोप बैठे हुए दोनों भाइयों की लीला देख रहे थे। चारों ओर सन्नाटा छा रहा था। हाथी के साथ मल्लयुद्ध होते देख कर सारी सभा जयजयकार की ध्वनि से गूंज उठी। जब वह कोलाहल कुछ कम हुआ तो क्या देखते हैं कि दो हृष्टपुष्ट पहलवान इनका सामना करने के लिए आगे आए। यह देख एकत्रित समुदाय से त्राहि त्राहि की ध्वनि होने लगी पर महाराज के उपस्थित रहने से कोई भी बोलने का साहस न करता था। युद्ध आरम्भ हुआ। एक एक पहलवान एक एक राजकुमार से भिड़ पड़ा और आपस में हाथापाई होने लगी, परिणाम जो विचारा था वही हुआ। यदुवंशीय राजकुमारों के आगे न ठहर सके और परास्त हो गये। उनके परास्त होते ही कृष्ण के नजरों तले अंधेरा छा गया। इतने ही में गोपों के लड़कों ने आकर कृष्ण और बलराम के साथ जय जयकार का नारा मारा और विह्वल हो नाचने

लगे। इनका नाचना कंस के घायल हृदय पर नमक का काम किया। महाराज इनकी ढिठाई देखकर जल गया और कृष्ण और बलराम को सभा से बाहर निकाल देने के लिये आज्ञा दे दी। वसुदेव कठोरता से बध किया जाय और नन्द बन्दी कर लिये जांय पर बलराम और कृष्ण की शूरता को देखकर किसी का साहस न पड़ा कि वह इन आज्ञाओं का पालन करता वा उसके हेतु आगे बढ़ता। जनता तो पहले से ही कंस से दुखित थी। वे चाहते थे कि किसी तरह उससे छुटकारा मिले। सारांश यह कि सारी सभा में से कोई भी उसकी आज्ञा पूर्ति के लिये न मिला। कंस यह लीला देख चुप बैठा यह सोच रहा था कि मेरा सारा किया धरा काम मिट्टी में मिल गया। इतने ही में कृष्ण कूद कर उस मंडप में आ गये जहां कंस बैठा था। तत्पश्चात् जोश में आकर कंस के केशों को पकड़ भूमि पर दे मारा। कुछ समय तक दोनों में खूब लड़ाई हुई और अन्त में प्रतापशाली कृष्ण के हाथ से मारा गया। कंस से उसकी प्रजा ऐसी घबड़ा गई थी कि इतने वृहद् भीड़ में से किसी ने भी उसके बचाने का यत्न न किया। मानो इस अवसर को दुर्लभ समझा और दोनों प्रतिपक्षियों को अपने आप में निबट लेने का अवसर दिया। हां कंस का भाई समाली आगे बढ़ा पर उसको बलराम ने पकड़ कर मार डाला।

—*—

* भागत से मालूम होता है कि कंस और कृष्ण का सामना हुआ और कंस के जो आठ भाई थे वह भी लड़े और मारे गए।

अष्टम अध्याय ।

उग्रसेन का गद्दी पर बैठना और कृष्ण का शिक्षा के निमित्त बनारस जाना।

जब कंस के मारे जाने की सूचना उसकी रानियों तक पहुंची तब उन सब ने बड़ा विलाप करना आरम्भ किया, उधर उग्रसेन और कंस की माता भी रो रो कर कोलाहल मचाने लगीं। राजमहल के प्रत्येक स्त्री पुरुष के मुख पर भय और शोक का संचार हो रहा था। कंस के इस दुखान्त परिणाम को देखकर लोग उसकी अनीतियों को तो बात की बात में भूल गए और उसके रक्तरंजित शरीर को देख रोने लगे। घृणा का बदला लेने का भाव तो जाता रहा, उसकी जगह दया और दुःख का संचार होने लगा, कृष्ण को भी इस शोक में मिलना पड़ा। इसके बाद कृष्ण और बलराम बसुदेव और देवकी जी की ओर बढ़े और अपना अपना शीश उनके पैरों पर रख दिया। एक ओर तो उग्रसेन और उसकी पत्नी का अपने पुत्रों की मृत्यु पर विलाप और दूसरी ओर अपने बिछड़े हुए पुत्रों से मिलाप ये दोनों ऐसे दृश्य थे जो एक ही सभामण्डप में लोगों के हृदय में विपरीत भाव उत्पन्न कर रहे थे। इस सारे दृश्य में लोगों को परमात्मा व अटल न्याय का झलक दृष्टिगोचर होती थी. जो दुःख और सन्ताप कंस और समाली के मृत शरीर के देखने से उत्पन्न होता था। वह तत्काल बसुदेव और देवकी के विह्वल हृदय के नीचे दब जाता था।

कंस के पूर्व अन्याय लोगों के सन्मुख नाचने लगे जो उसने बसुदेव और देवकी के बच्चों को बध करने के किये लिये थे। बेचारे माता और पिता के आनन्द में सारी सभा ने भाग

लिया। यादव वंश के छोटे बड़े सब एक एक करके कृष्ण के पैर पड़ने लगे और सब ने उनको राज्य तिलक लेने की प्रार्थना की। सारी सभा इस शब्द से गूंज उठी कि गद्दी पर बैठें और राज्य करें युवा कृष्ण के लिये यह बड़ी कड़ी परीक्षा का समय था। एक ओर राजपाट और सारे ऐश्वर्य उसके सामने हाथ जोड़े खड़े थे और सारे भाई बन्धु और प्रजा उससे आग्रह कर रहे थे कि कृष्णजी राजपाट स्वीकार करें दूसरी ओर उसके हृदय में न्याय और धर्म के उच्च भाव उत्पन्न हो रहे थे। हृदय से उन्होंने यह सोचा कि मुझे गद्दी का अधिकार नहीं, मैंने कंस को इसलिये नहीं मारा कि उसका राजपाट का मैं स्वयं आनन्द लूं। यदि मैंने इस समय गद्दी स्वीकार कर ली तो संसार को यह कहने का अवसर मिलेगा कि राज्य के लोभ में फंसकर कंस का वध किया, पर मेरे हृदय में इसका कभी विचार भी नहीं हुआ। इस विचार के आते ही कृष्ण ने निश्चय कर लिया कि नहीं, मैं गद्दी न लूंगा, ये गद्दी उग्रसेन की है। जिससे दुष्ट कंस ने अन्याय और बल से छीनी थी। उग्रसेन ने भी बहुत अनुरोध किया कि मैं इससे प्रसन्न हूँ कि आप गद्दी पर बैठें पर कृष्ण ने एक न सुनी और सब के सामने उग्रसेन को फिर से गद्दी पर बिठा दिया। जो लोग कंस के अत्याचारों से डर स्वदेश का परित्याग कर चले गये थे उन सबको बुला लिया। सारांश यह कि सब प्रबन्ध ठीक करके कृष्ण ने भाई बलराम सहित विद्या के निमित्त काशी * जाने का निश्चय किया।

* हम कह नहीं सकते कि कृष्ण के सामने वर्तमान काशी वा बनारस को यही गौरव प्राप्त था जो उसे पौराणिक समय में था। प्राचीन ग्रन्थों में काशी का वर्णन आया है पर हमारे पास उसका कोई प्रमाण नहीं कि उससे तात्पर्य इसी "शहर बनारस" का है पुराणों के बनने के समय तो काशी अपनी पूर्ण उन्नति के शिखर पर पहुँची हुई थी इस

पाठक! कृष्ण और बलराम के विद्योपार्जन का अधिक समय तो वृन्दावन के बनों में ढंगर चराने और वंशी बजाने में व्यतीत हुआ। क्योंकि उनके प्राण रक्षा के हेतु उसकी वास्तविक अवस्था छिपाना आवश्यक था, पर जब कृष्ण को अपने वंश का पता लगा तो उसने कुछ विद्याध्ययन करना आवश्यक समझा क्योंकि उसके बिना वह अपने कर्तव्यों को पालन नहीं कर सकता था। क्षत्रिय वंश के दोनों राजकुमारों ने इस कमी को पूरा करने का संकल्प कर लिया और वहीं से उन प्यारे गोपों से पृथक हुए जिन्होंने बचपन में रक्षा की थी। अपने धर्म के पिता और उनके सम्बन्धियों से विनय पूर्वक आज्ञा मांगी और अपनी धर्म की माता यशोदा को प्यार और प्रेम के भरे सन्देशे भेजे। इसी तरह सब साथियों से गले मिल कर विदा हुए, जिनके साथ अपने कैद के दिन काटे थे और जिन की संगत में सुख की नींद सोये थे। यह विचार मानों उस समय राजघरानों के साधारणतः अनुकूल था। अपने धर्म का ज्ञान होते ही उन सब सम्बन्धों पर लात मारा। नन्द और यशोदा का स्नेह और गोपों का प्रेम और खेल कूद उनके चित्त को विचलित न कर सका।

बस इतना पुराणों में कृष्णके शिक्षाके विषयमें पता मिलता है कि कृष्ण के गुरु का नाम सन्दीपन था जो अवन्तीपुर नामक स्थान का रहने वाला था। पुराण कहता है कि कृष्ण ने सन्दीपन से केवल २४ दिन शिक्षा पाई और इसी अल्पकाल में सारी शास्त्रविद्या में निपुण हो गए पर महाभारत में श्रीकृष्ण की

लिये सम्भव है कि उन पुराणों के रचयिता पण्डितों ने अपने विचारानुसार यह लिख मारा हो कि श्री कृष्ण भी हो न हो विद्योपार्जन के लिये काशी ही गए हों पर यथार्थ तो यह जान पड़ता है कि वह विद्या के निमित्त काशी नहीं गए।

शिक्षा का स्थान स्थान पर वर्णन आया है। जिससे विदित होता है कि कृष्ण अपने समय का परम विद्वान् था और वेद-शास्त्र का भी ज्ञाता था। महाभारत में एक स्थान पर वर्णन है कि कृष्णजी ने दश वर्ष तक तप किया था जिससे हम परिणाम निकालते हैं कि उग्रसेन को मथुरा की गद्दी देकर श्रीकृष्ण ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण करके दश वर्ष पर्य्यन्त केवल विद्या उपार्जन करते रहे।

नवम अध्याय।

मथुरा पर मगधदेश के राजा जरासन्ध का आक्रमण।

जिन दिनों कंस का मथुरा पर अधिकार था उस समय मगध देश पर जरासन्ध राज्य करता था, जिसने सारे राजे महाराजों को जीत कर महाराज की उपाधि ली थी। कंस ने अपना बल बढ़ाने के लिए जरासन्ध से सम्बन्ध लगाया और उसकी दो पुत्रियों से विवाह कर लिया था। कंस के वध का समाचार जब जरासन्ध को मिला तो वह क्रोधान्ध हो यादवों के नाश करने के हेतु युद्ध की आज्ञा दे दी और अगणित सेना लेकर मथुरा में आन पहुंचा। जरासन्ध के आक्रमण का हाल सुनकर मथुरा वालों ने श्रीकृष्ण बलराम को याद किया क्योंकि इस चढ़ाई के मूल कारण श्रीकृष्ण थे। अतएव इस युद्ध के समय उन्हें अपने वंश की सहायता करना आवश्यक प्रतीत हुआ, इसलिये वे और बलराम जरासन्ध से पहिले मथुरा आन पहुंचे और बड़ी शूरता से अपनी जन्म भूमि और उसके राजा की रक्षा में तत्पर हुये। यद्यपि जरासन्ध की सेना के सामने यादवों की गिनती बहुत कम थी और उस महापराक्रमी राजा

के सम्मुख इनके राज्य की कुछ गणना न थी,पर वह अपने शहर और राजा के हेतु ऐसी बीरता से लड़े कि जरासंध की सेना के दाँत खट्टे कर दिए। जरासन्ध यहाँ तक निराश हुआ कि उसने घेरा उठा लिया और चलता बना। इसी प्रकार अठारह बार उसने आक्रमण किया पर प्रत्येक बार निष्फल रहा अन्तिम बार बड़ी तय्यारी से आया और अपने साथ अपने आधीन राजाओं को लेता आया। इस चढ़ाई का समाचार पाकर यादवों को बड़ी चिन्ता हुई पर कृष्ण की सलाह से यह निश्चय किया गया कि इस अगणित सेना से लड़ना मानों अपने आप को बलिदान देना है। बारह बार जरासन्ध ने म्लेच्छों की सहायता ली है अब उससे मुकाबला करना मानों अपना बल तोड़ना है। इस बात को विचार कर सबने यही निश्चय किया कि मथुरा छोड़ कर किसी और स्थान की शरण लेनी चाहिये इन्हीं बातों को विचार अपनी धन सम्पत्ति ले मथुरा को छोड़ दिया और पश्चिम में समुद्र के किनारे गुजरात के प्रदेश में वशतीमली नामक एक स्थान अपने वास के लिये चुना। यह शहर पहाड़ की घाटी में बसा हुआ था।

यहाँ कृष्ण ने एक टापू में द्वारिकापुरी की नींव डाली यह पुरी अब तक स्थित है और हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता है। यहाँ यादवों ने एक मजबूत दुर्ग बनाया और अपने पहरे चौकी का पूरा प्रबन्ध करके * रहने लगे।

---

* जब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से राजसूय यज्ञ करने का विचार प्रगट किया और आज्ञा मांगी, तो कृष्ण ने कहा कि हे राजन्! जरासन्ध ने यहां के सारे राजे महराजों को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया है। अधिकतर ज्ञातियां उसके भय से स्वदेश त्याग कर भाग गई हैं, उसकी सेना में अगणित धीर योद्धागण हैं। जबतक तुम इसे न जीत लो राजसूय यज्ञ

दशम अध्याय।

कृष्ण का विवाह।

—०००—

बरार के राजा भीष्मक की रूपवती पुत्री का नाम रुक्मिणी था। कृष्णजी इसके सौन्दर्य का वर्णन सुनकर उस पर आसक्त हो गए। यह प्रेम दोनों ओर से था। वह भी कृष्णचन्द्र के रूप और गुण पर मोहित थी। उसकी मनोकामना यही थी, कि किसी प्रकार कृष्ण महाराज मेरा पाणिग्रहण करें, पर इस में एक रुकावट यह थी कि उसका पिता भीष्मक राजा जरासन्ध के दबाव में था। उसने जरासन्ध की सम्मति से रुक्मिणी की मंगनी चेदी के राजा शिशुपाल से करदी, जो जरासन्ध का सेनापति था। यहां तक कि विवाह का दिन नियत कर दिया गया और शिशुपाल अपने स्वामी जरासन्ध के साथ विवाह करने को आ पहुँचा। जब कृष्ण को खबर मिली कि रुक्मिणी का पिता उसका विवाह करने लगा है तो वह (कृष्ण)

नहीं कर सकते। इन्हीं बातों के अन्तर्गत उन्होंने उन सब लड़ाइयों का भी वर्णन किया जो उन्होंने और उनके वंश वालों ने जरासन्ध से लड़ी थीं और जिनसे व्याकुल होकर अन्त में उन्हें द्वारिका की ओर भागना पड़ा था। इससे यह विदित होता है कि उस समय केवल यादव वंश में १८ हजार भाई भतीजे थे। जो सब के सब शस्त्रधारी और युद्ध विद्या में निपुण थे। इसी बीच में श्रीकृष्ण ने कहा कि द्वारिकापुरी को निकटस्थ पहाड़ों का घेरा है जो तीन योजन है। हर एक योजन में २१ छावनियाँ हैं और १०० दर्वाजे बनाए गए थे, जहाँ पर शस्त्रधारी यादव सेना रक्षा के लिये नियत थी। एक योजन चार कोस का होता है।

भी बलभद्र और दूसरे साथियों सहित भीष्मक की राजधानी मंडेल में जा पहुँचा और जब रुक्मिणी मन्दिर से लौटती हुई अपने घर जा रही थी तो उसे ले (१) उड़े। रुक्मिणी के भाई रुक्म ने जब यह लीला सुनी तो वह बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसका पीछा किया। जब दोनों की मुठभेड़ हुई और रुक्म परास्त हुआ और मारे जाने वाला ही था कि भगिनी ने उसका पक्ष लिया और उसकी जान बचाई। इस तरह रुक्म को नीचा दिखाकर श्रीकृष्ण रुक्मिणी को लेकर द्वारिका में आए, और राक्षस (२) रीति से उससे विवाह कर लिया।

इस विवाह से प्रद्युम्न उत्पन्न हुआ जिसका महाभारत में स्थान २ पर वर्णन आया है।

---

(१) किसी २ पुराण में यह वर्णन है, कि रुक्मिणी ने स्वयं कृष्ण को सन्देशा भेजा और मन्दिर जाने के बहाने से अपने पिता के महल से निकल पड़ी और स्वेच्छा से श्रीकृष्ण के साथ हो ली।

(२) सूत्र शास्त्रों में विवाह ८ प्रकार का कहा है। जिनमें से एक को राक्षस विवाह कहते हैं। जब कोई क्षत्रिय किसी लड़की को उसकी इच्छा विरुद्ध लड़कर वा चोरी से भगा ले जाता था और उससे विवाह कर लेता था, तो उसे राक्षस विवाह कहते थे। महाभारत में लिखा है कि भीष्म पितामह ने काशी के राजा की दो कन्याओं को इसी तरह हरण करके अपने भाइयों का विवाह किया था। महाराज पृथ्वीराज का संयोगिता को ले भागना और उससे विवाह करना एक ऐतिहासिक घटना है, इसी तरह अर्जुन श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा को ले भागे थे। पुराणों में कृष्ण की अनेक रानियों का वर्णन आता है। पर इसका पता लगाना कठिन प्रतीत होता है, कि वास्तव में कितनी थीं। पर यह तो निश्चय है कि रुक्मिणी

एकादश अध्याय।

श्रीकृष्ण की अन्य लड़ाइयां।

द्वारिकापुरी में जा बसने के पश्चात् कृष्ण का जीवन दो भागों में विभक्त होता है। एक वह जो महाभारत के युद्ध में वर्णित है और दूसरा वह जो अन्य लड़ाइयों के वृत्तान्त से विदित होता है। द्वारिका में वास करने के बाद श्रीकृष्ण की राजनीति का अधिकांश महाभारत में व्यतीत हुआ है। महाभारत में कृष्ण की जो बातें लिखी हैं उनसे उनके जीवन का कुछ न कुछ पता तो अवश्य चलता। है इसलिये हम पहिले उन लड़ाइयों का वृत्तान्त वर्णन किया चाहते हैं जो पौराणिक साहित्य में उनके नाम से वर्णन की जाती हैं। यह वृत्तान्त अत्युक्तियों से ऐसे भरे हुये हैं कि उनमें से यथार्थ बातों का निचोड़ निकालना संभव नहीं।

(१) विष्णुपुराण में (२६ वां अध्याय) उस आक्रमण का वर्णन आया है जो कृष्ण ने कामरूप (आसाम) की राजधानी शहर प्राग्ज्योतिष पर की थी। यहां के राजा का नाम 'नर्क' लिखा है। इस लड़ाई का कारण यह बताया जाता है कि प्राग्ज्योतिष का राजा बड़ा अन्यायी था। डराकर लोगों की स्त्रियों और कन्याओं को अपने घर में डाल लेता था। और जब उस प्रान्त के लोगों ने कृष्ण की शरण ली तो उन्होंने 'नर्क' पर चढ़ाई की और उसको मार कर उन सब स्त्रियों को छुड़ाया जो उसके महल में कैद थीं और जिनकी गणना १६ हज़ार के लगभग थी।

श्रीकृष्ण की पट्टरानी थी। विष्णुपुराण, भागवत और हरिवंश के भिन्न २ वृत्तान्त से जान पड़ता है कि कृष्ण की आठ रानियां थीं।

(२) दूसरी लड़ाई जिसका वर्णन विष्णुपुराण में है। करनाटक के राजा 'बान' से हुई जिसका कारण यह जान पड़ता है कि कृष्ण के पोते अनिरुद्ध और बान की पुत्री उषा में परस्पर प्रेम हो गया था। यह प्रेम यहां तक बढ़ा कि अनिरुद्ध बान के महलों में जा पहुँचा। और वहाँ अपनी प्रिया के संग पकड़ा गया और बन्दी बना लिया गया। जब यह समाचार द्वारिका में पहुँचा, तो श्रीकृष्ण बलराम और प्रद्युम्न उसे छुड़ाने गये। एक भयङ्कर युद्ध के पश्चात् बान पराजित हुआ और कृष्ण अनिरुद्ध को लेकर लौट आये।

(३) तीसरी लड़ाई जिसका वर्णन विष्णुपुराण में आया है, बनारस के राजा पौण्ड्र से हुई थी। इस राजा ने बासुदेव की उपाधि ग्रहण कर ली थी पर कृष्ण की उपाधि भी यही थी। इसलिये ऐसा कहते हैं कि इस (पौन्ड्र) ने ईर्षावश श्रीकृष्ण को एक उद्दण्ड सन्देशा कहला भेजा और इसी से दोनों में युद्ध हुआ जिसमें पौण्ड्र मारा गया। इस युद्ध में पहिले चढ़ाई किस ओर से हुई इस विषय में मतभेद है। विष्णु पुराण के अनुसार जब कृष्ण को झूठा और छली कहा गया तो पहिले उन्होंने ही चढ़ाई की पर दूसरे यह कहते हैं कि जब कृष्णचन्द्र कैलाशयात्रा को गए हुए थे तो पौण्ड्र पहिले द्वारिका पर चढ़ आया और इसी से लड़ाई का आरम्भ हुआ।

द्वादश अध्याय।

द्रौपदी का स्वयंवर तथा श्रीकृष्ण का पांडु पुत्रों को पहिचानना।

आर्य्यावर्त में कौरवों पांचालों की लड़ाई इतनी प्रसिद्ध है कि एक छोटा बच्चा भी उसे भली भाँति जानता है। वस्तुतः

कौरव और पांचाल दो जातियों के नाम थे, जो भारतवर्ष के उत्तर प्रान्त में शासन करती थीं। कुछ जाति के वासस्थान का नाम कुरुवन था और पांचाल के देश का नाम पांचाल ही था। यद्यपि दोनों जातियां एक ही वंश से थीं। लेकिन परस्पर में ऐसा विरोध था कि सदा आपस में लड़ती रहती थीं। पाण्डु पुत्र (युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव) और दुर्योधन इत्यादि यह सब कुरुवंश के राजकुमार थे और आपस में चचेरे भाई थे। पांचाल के राजा का नाम द्रुपद था जो राजकुमारी द्रौपदी का पिता था। दुर्योधन का पिता धृतराष्ट्र अन्धा होने से गद्दी पर नहीं बैठा। पाण्डु राज्य करता था। पाण्डु के मरने पर धृतराष्ट्र दुर्योधन गद्दी पर अधिकार करने के हेतु पाण्डुपुत्रों की जान के पीछे लग गया। यह लड़ाई इतनी बढ़ी, कि धृतराष्ट्र ने पाण्डवों से कहा, कि वे कुछ काल के लिये विराट शहर में जा रहें। पाण्डवों ने जब इस बात को स्वीकार कर लिया तो दुर्योधन ने अपने एक मित्र विरोचन को एक लाख का घर निर्माण करने के निमित्त आगे भेज दिया जिसमें सब पाण्डव जा रहें तो किसी दिन रात्रि के समय जा उसमें आग लगादी जाय और इस प्रकार सब के सब भीतर ही जल मरें। पर दुर्योधन के इस दुसंकल्प का विचार विदुर को विदित हो गया, और उन्होंने अपने भतीजे युधिष्ठिर इत्यादि को इस बात की सूचना दे दी। इसलिये सावधान हो कर पांचों पाण्डव आग के पहिले वहां से भाग निकले और ब्राह्मण के रूप में छिपे छिपे वन में घूमने लगे। इन्हीं दिनों में पांचाल की राजपुत्री द्रौपदी का स्वयंवर रचा गया था। इस उत्सव में आर्यावर्त के समस्त क्षत्रिय राजा महाराजा उपस्थित थे। श्रीकृष्ण भी अपने भाई बलराम के साथ आए हुए थे। एक ओर ब्राह्मण के वेष में पांडवगण भी बैठे हुए थे।

इस स्वयंवर के जीतने का नियम यह था कि एक तेल की कढ़ाई में एक चकपर एक मत्स्य का चित्र बना था। वह मछली घूमती थी। उसकी छाया तेल में देखकर जो अपने बाण से मछली के नेत्र में लक्ष्य करेगा वही द्रौपदी का पति होगा। ऐसा जान पड़ता है, कि उस समय धनुष विद्या में कर्ण और अर्जुन बड़े निपुण थे। इनकी समता करने वाला कोई न था। उपस्थित राजाओं में से कोई भी उस लक्ष्य को न बेध सका-तत्पश्चात् कर्ण उठा जिसपर द्रौपदी ने कहा कि यह सारथि का पुत्र है इससे मैं विवाह नहीं कर सकती। यह सुन कर्ण अपना सा मुंह लेकर बैठ गया। अंत में ब्राह्मणों की पंक्ति में से अर्जुन उठा और उठते ही इस तीव्रता से बाण मारा, कि वह सीधा निशाने पर जा लगा, बस फिर क्या था—द्रौपदी ने आगे बढ़कर फूलों का हार उसके गले में पहिना दिया। यह देख कर सारी सभा में कोलाहल मच गया। सारे राजे महाराजे कहने लगे कि स्वयंवर में ब्राह्मण राजकन्या से विवाह नहीं कर सकता। इस लड़ाई में अर्जुन और भीम ने ये कौशल दिखाये कि श्रीकृष्ण ने उन्हें पहचान लिया और बीच में पड़कर यह निर्णय कर दिया कि इस ब्राह्मण ने नियमानुसार स्वयंवर जीता है इसलिये न्याय और नियम के अनुसार द्रौपदी इसकी ही हो चुकी। श्रीकृष्ण का प्रभाव इतना था कि इस निर्णय पर सब के सब चुप हो रहे, और वहाँ से चल गये। अर्जुन अपने भाइयों सहित द्रौपदी को लेकर अपनी माता के पास गए फिर कृष्ण भी वहां पहुँचे। युधिष्ठिर की माता कुन्ती, कृष्ण की बूआ थी। एक दूसरे को पहचान कर कुशल क्षेम पूछने पर पांडुपुत्र कृष्ण से पूछने लगे कि "आपने हमको किस तरह पहचाना" जिसके उत्तर में कृष्ण ने कहा कि अग्नि छिपाये नहीं छिप सकती। आपने जो विचित्र कार्य आज द्रौपद की

सभा में किया है उसी ने आप सबका परिचय दिया। पांडवों को छोड़ कर और किसमें सामर्थ्य थी जो इसको बेधता।

त्रयोदश अध्याय।

कृष्ण की बहिन सुभद्रा का अर्जुन के साथ विवाह।

द्रौपदी के स्वयंबर का हाल धृतराष्ट्र के कानों तक पहुँचा तो उसने भीष्मजी की राय से विदुर को द्रुपद के दरबार में भेजा कि यह वहां से पाण्डवों को उनकी विवाहिता पत्नी सहित ले आवें। जब विदुरजी राजा द्रु पद के दरबार में पहुँचे और उन्होंने विचार प्रगट किया (उस समय कृष्णचन्द्र भी मौजूद थे) तो द्रुपद ने विदुर से कहा कि इसकी व्यवस्था श्रीकृष्ण से लेनी चाहिये। यदि उनकी सम्मति हो कि युधिष्ठिर आदि को अपने घर हस्तिनापुर जाना चाहिये तो मैं भेजने में कुछ हस्ताक्षेप न करूंगा। फिर कृष्णजी ने यह सम्मति प्रकाशित की, कि अब पाण्डुपुत्रों को स्वदेश जाना चाहिये। यह सुन कर द्रुपद ने उन्हें जाने की आज्ञा दी। ऐसा जान पड़ता है कि कृष्णचन्द्र भी इस यात्रा में उनके साथ थे। यह हस्तिनापुर पहुँच गये। राजा धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों को शान्त करने के लिये पाण्डवों को राज्य बांट दिया और उनसे कह दिया कि वह खांडवप्रस्थ के बन को आबाद करें।

इसके बाद पाण्डव उस बन में चले गये और वहां उन्होंने इन्द्रप्रस्थ नाम का एक नगर बसाया।

पाठक! यह इन्द्रप्रस्थ वही शहर है जो आजकल देहली के नाम से प्रसिद्ध है। पर जहां देहली आजकल बसी है वहां से इन्द्रप्रस्थ की बस्ती कुछ दूरी पर है।

जब पाण्डव इन्द्रप्रस्थ में जा बसे और आनन्द पूर्वक रहने लगे तो कृष्णचन्द्र इस धर्म कार्य को पूरा करके द्वारिकापुरी को लौट आये।

कुछ काल बीतने पर जब अर्जुन द्वारिका गये तो वहां कृष्ण ने उनका बड़ा सत्कार किया। राज्य के कर्मचारी और शहर के धनाढ्य समुदाय ने उनका आदर पूर्वक स्वागत किया।

अर्जुन * अभी वहीं हो थे कि द्वारिका की एक पहाड़ी 'खेनका' पर एक मेला लगा। इस मेले में घूमते हुए अर्जुन ने सुभद्रा को देख लिया। सुभद्रा कृष्ण की अपनी बहिन थी और परम सुन्दरी थी। अर्जुन उसे देखकर प्रेमासक्त हो गये और एक दृष्टि से देखने लगे। कृष्ण भी इस भेद को समझ गये। उन्होंने हंसी से कह दिया कि "जो रात दिन जंगल जंगल विचरता फिरता है उसे प्रेम प्रहसनों से क्या काम"।

पर जब कृष्ण ने उन्हें बतलाया कि सुभद्रा उसकी बहिन है तो अर्जुन ने सुभद्रा से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। कृष्णजी भी चाहते थे कि यह सम्बन्ध हो जाये। क्योंकि वे जानते थे कि अर्जुन अपने समय के प्रसिद्ध वीर हैं,इनसे संबंध लगाना अपने को गौरवान्वित करना है। पर उन्हें इस बात का भय था कि कदाचित् उनके भाईवृन्द स्वीकार न करें। क्योंकि अर्जुन आदि के जन्म विषय में उस समय लोगों में

---

* अर्जुन इन दिनों में १२ वर्ष के लिये घर छोड़ के बनवास में थे क्योंकि पांचों भाइयों में प्रतिज्ञा हुई थी कि यदि कोई भाई किसी दूसरे की उपस्थिति में द्रौपदी के कमरे में जाय तो १२ वर्ष घर त्यागना पड़ेगा। एक दिन किसी कार्य्यवश अर्जुन को अपने शस्त्र लेने के लिये द्रौपदी के कमरे में जाना पड़ा जब कि वहां युधिष्ठिर उपस्थित थे। इसलिये उन्हें १२ वर्ष बनवास मिला। कुछ काल तक इधर उधर घूमकर अर्जुन द्वारिका जा पहुंचे। कृष्णजी की वार्ता में इसी का हवाला है।

बहुत चर्चा थी। इसलिये कृष्णजी ने इन बातों की चिन्ता कर अर्जुन से कहा कि मैं निश्चय नहीं कर सकता कि स्वयंबर में मैं सुभद्रा तुम्हीं को बरेगी। क्षत्रियों में गन्धर्व विवाह की चाल है और योद्धाओं के लिये यह बात प्रतिष्ठा की समझी जाती है कि वह विवाह करने की इच्छा से अपनी प्रिया अपहरण कर ले। अतएव यदि तुम सुभद्रा पर ऐसे मुग्ध हो तो तुम्हारे लिये इससे उत्तम और कोई उपाय नहीं; कि तुम उसको बलात् ले भागो। फिर निश्चय तुम्हारा विवाह * उससे होगा। यह निश्चय हुआ कि इस विषय में पहले युधिष्ठिर जी की आज्ञा ले ली जाय। इसलिये एक दूत उनके पास भेजा गया। जब वहां से आज्ञा मिल गई तो एक दिन अर्जुन रथ लेकर सुभद्रा के रास्ते में जा बैठे। वह उनके पास से निकली तो उसको बलात् उठाके रथ में रख लिया और भाग चले। जब सुभद्रा की सहेलियों द्वारा ये समाचार दरबार तक पहुँचा तो सब लोग अत्यन्त कोपित हुए। फिर शिशुपाल ने शंख बजाया जिससे सारे यादव और भोज शस्त्र धारण कर एकत्रित हुए। जब उन्होंने सुना कि अर्जुन उनकी राजकुमारी को बलपूर्वक हर ले गया तो उनके आंखों से खून उतर आया और सब बदला लेने पर तत्पर हो गये। इतने में बलरामजी आ पहुँचे और बोले कि इसका कारण क्या है कि सब लोग ऐसे उत्तेजित दीख पड़ते हैं। कृष्णचन्द्र चुपचाप बैठे थे। उनसे इसका कारण पूछा और कहने लगे कि हे कृष्ण तुम चुप क्यों हो। तुम्हारे

* याद रहे कि कृष्णजी का विवाह रुक्मिणी के साथ इसी तरह हुआ था, इससे जान पड़ता है कि उस समय यह चलन क्षत्रियों में निन्दनीय नहीं गिनी जाती थी। क्योंकि जो कोई किसी कन्या को भगा ले जाता था वह विवाह की इच्छा से ले जाता था। विवाह का संस्कार किए बिना उसके पास नहीं जाता था।

लिये तो हम सबने अर्जुन का ऐसा सम्मान तथा स्वागत किया परन्तु मालूम हुआ कि वह इस सम्मान और स्वागत के योग्य न था। उसने हमारा बड़ा अपमान किया। हमारी बहिन के साथ उसने जो बलात्कार किया है वह असह्य है। यह कैसे हो सका है कि हम इस अपमान को चुपचाप सहन कर लें। हम इसका बदला लेंगे और जबतक पृथिवी को कौरवों से शून्य न करेंगे दम न लेंगे।"

जब चारों ओर से यही आवाज गूंज उठी और यादव मरबे मारने पर कटिबद्ध हो गए तो कृष्ण से चुप न रहा गया और बोले कि "हे भाइयो आपका यह विचार ठीक नहीं कि अर्जुन ने हमारा अपमान किया, मेरे विचार से उसने हमारी प्रतिष्ठा बाढ़ई है। वह जानता था कि हमारे वंश में बदला लेके लड़की देना निषिद्ध है, स्वयंबर में सफलता की उसे पूर्ण आशा न थी। उसके पद और वीरता से यह संभव नहीं था कि वह आप से कन्यादान मांगता। अतएव उसने क्षत्रियों की चाल चली। जैसे सुभद्रा परम रूपवती और गुण सम्पन्ना है, वैसे ही अर्जुन भी प्रत्येक प्रकार से उसके योग्य है। भारत का वंशज शन्तनु का पोता और कुन्तिभोज का नाती है। वह किसी प्रकार उसके अयोग्य नहीं कहा सकता। मुझको आज समस्त पृथिवी पर उसके समान वीर दिखाई नहीं देता। किसका साहस है कि युद्ध में अर्जुन का सामना कर सके। उसपर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। उसकी वीरता आदर्श स्वरूप है।

इसलिए मेरी सम्मति से उत्तेजना से काम न लिया जाय परन्तु उसे बुलाकर उसका विवाह सुभद्रा से कर दिया जाय। क्योंकि यदि हम उससे लड़ें और पराजित हुए तो इसमें हंसी होगी। सन्धि कर लेने में कोई हंसी नहीं।"

सारांश यह कि इस प्रकार कृष्ण ने अपने भ्राताओं का क्रोध शान्त किया और उनकी बात से सब सहमत हुए और अर्जुन को बुलाकर उनके साथ सुभद्रा का विवाह कर दिया गया।

अर्जुन सुभद्रा के साथ विवाह करने कुछ दिवस पर्य्यन्त वहां रहे और बारह वर्ष समाप्त हो जाने पर अपनी धर्मपत्नी सहित इन्द्रप्रस्थ लौट गये।

जब अर्जुन के इन्द्रप्रस्थ पहुंचने का समाचार मिला तो कृष्ण अपने भाई बन्द सहित बड़ी धूम धाम से सुभद्रा का दहेज लेकर चले। इस दहेज में युधिष्ठिर आदि के लिये पृथक् २ उत्तम उत्तम भेंट थी। इन्द्रप्रस्थ वालों ने जिस तरह कृष्ण और उनके साथियों का स्वागत किया, वह इससे भली प्रकार से प्रकट होता है।

"राजकुमार नकुल और सहदेव ने नगर से बाहर जाकर अतिथियों का स्वागत किया और फिर उन्हें बड़ी धूम धाम से बाजों और पताकों के साथ नगर में ले आये। नगर की गलियां इस उत्सव के लिये साफ की गईं। और उनपर छिड़काव किया गया। सब बाजार गली कूंचे इत्यादि रङ्ग-बिरङ्गे फूल से सुसज्जित किये गये थे। इन फूलों पर चन्दन छिड़का हुआ था। जिससे चारों ओर सुगन्धि फैल रही थी। नगर के प्रत्येक कोने में सुगन्धि जलाई गई थी जिसमें कहीं भी दुर्गन्धि न रहे। नगर के बाहर विद्वान् ब्राह्मण स्वागत के लिये गए। सबने रीत्यानुसार कृण की पूजा की। स्वयं महाराज युधिष्ठिर आदर पूर्वक आगे बढ़े और गले लगा कर अन्तःपुर में गए।

—०*०—

चतुर्दश अध्याय।

खांडवप्रस्थ के वन में अर्जुन और श्रीकृष्ण की कार्रवाइयां।

महाभारत का अवलोकन करने से मालूम होता है कि पांडवों की राजधानी (इन्द्रप्रस्थ) से कुछ दूरी पर एक सुन्दर बन था जिसको खांडवप्रस्थ कहते थे। इसमें जंगली पशुओं के अतिरिक्त अनेक असभ्य जातियां रहती थीं। उस समय तक इन जंगली जातियों को किसी ने परास्त न किया था।। यह बन बहुत बड़ा था। इस बनकी रहने वाली जातियां बड़ी वीर और लड़ाकी थीं। पांडवों को यह बन दे देने में धृतराष्ट्र की यही नीति थी, कि इस पर स्वत्व जमाने में या तो स्वयं पांडव गण अपने प्राण नष्ट करेंगे या उनको मार कर एक ऐसे प्रदेश को राज्य में मिला लेंगे, जिसे उनके पहिले कोई भी अपने आधीन नहीं कर सका है। वास्तव में धृतराष्ट्र की यह अनीति और अन्याय था कि अपने पुत्रों को तो अच्छी २ बस्ती और उपजाऊ भूमि दे और पांडवों को पथरीला और उजाड़ बन मिले। धर्मवीर युधिष्ठिर पर धृतराष्ट्र की बातों का बड़ा प्रभाव था। उन्होंने इस बात पर लेशमात्र भी आशङ्का न की और प्रसन्न चित्त से इस प्रान्त को अंगीकार कर लिया। पांचों भाइयों में परस्पर इतना प्रेम था, कि किसी ने भी युधिष्ठिर के स्वीकार करने पर नाक भों नहीं चढ़ाया। और बात भी सत्य है, कि जब युजिष्ठिर स्वीकार कर चुके थे तो उनके छोटे भाई जा उनके आज्ञाकारी थे, किस प्रकार शङ्का करते ? जब वह भाग विभाजित हुवा तो कृष्ण जी (जो द्रुपद के यहां से पांडवों के साथ आये थे) यहां उपस्थित थे। इस हेतु से ही पांडवों को शान्त कर दिया, कि लड़ाई न होने पावे।

स्मरण रखना चाहिये कि पांडव उनके फुफेरे भाई थे। पिता की गद्दी पर उनका पूरा अधिकार था पर धृतराष्ट्र के अन्याय से वह मारे मारे फिरते थे। अन्त में जब उन्हें पृथक् दिया भी गया तो ऐसा दिया कि जिसे अपने अधीन करने के लिये अपनी ही जान बचाना कठिन था। द्रौपदी के स्वयंवर में उनकी अवस्था देखकर कृष्ण ने निश्चय कर लिया था कि उनको उनका अधिकार दिलवा दिया जाय। हस्तिनापुर में आकर उनकी भलाई के हेतु उन्हें यही हितकर दीख पड़ा कि बहुत ज़ोर न दें। और जो कुछ धृतराष्ट्र ने विचारा है, उसे स्वीकार कर लें। इन्हीं कारणों से जब पांडवों ने खांडवप्रस्थ का लेना स्वीकार कर लिया तो कृष्ण ने उनका साथ दिया और उस बन के काटने और बसाने में उनकी सहायता की। यहां तक कि जब तक इन्द्रप्रस्थ अच्छी तरह न बसा और पांडवों का वहां पूरा अधिकार न जमा तब तक वे द्वारका न गये।

पाठक गण ! आप समझ गये होंगे, कि सुभद्रा के विवाह के विषय में कृष्ण जी ने क्यों अर्जुन का पक्ष लिया था। उनकी हार्दिक इच्छा यही थी कि अर्जुन के साथ ऐसा सम्बन्ध लगाया जाय, जिसमें सारे यदुवंशी पांण्डवों की सहायता करने पर विवश हो जायें और इसलिये उन्होंने ऐसी युक्ति लगाई जिसमें अर्जुन और सुभद्रा का विवाह होही गया।

कृष्ण के वंश से यों सम्बन्ध हो जाने से पांडवों को बड़ा सहारा मिला और समस्त आर्य्यावर्त में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ गई शत्रु उनसे भय खाने लगे। दुर्योधनादि को भी मालूम हो गया कि कृष्ण और उनके यादव वीर पांडवों की पीठ पर हैं इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध से उनका एक यह भी अभिप्राय था, कि वह अपने शत्रु जरासन्ध से बदला लेने में अर्जुन आदि

से सहायता लेना चाहते थे। इनकी इच्छा थी कि पांडव उनका उपकार मान के जरासन्ध के नाश में स्वयमेव उनकी सहायता करें। कृष्ण की युक्ति फलदायक हुई और ऐसा ही हुआ। इनमें परस्पर प्रेम बढ़ता ही गया। कृष्ण प्रायः सब युद्धों में पांडवों का साथ देने लगे। ऐसा जान पड़ता है कि जब सुभद्रा का दहेज लेकर कृष्ण इन्द्रप्रस्थ गये तो अर्जुन ने उन्हें वहां ठहरा लिया और फिर दोनों में यह निश्चय हुआ कि खांडवप्रस्थ की जंगली जातियों को परास्त कर युधिष्ठिर का राज्य बढ़ा दें और जंगल को काट कर अथवा जलाकर सारे जंगल को उपजाऊ बना दें। आदि पर्व के २२४वें अध्याय से लेकर पर्व की समाप्ति तक अलंकारों में इन्हीं युद्धों का वर्णन है। इन अध्यायों के पढ़ने से मालूम होता है कि इस वन में पिशाच, राक्षस, दैत्य, नाग, असुर, गन्धर्व, यक्ष और दानव आदि अनेक असभ्य जातियां बसी हुई थीं जिनके साथ अर्जुन और कृष्ण को बड़ी बड़ी लड़ाइयां लड़नी पड़ीं। इनपर विजयी होने से सारे आर्य्यावर्त में पांडवों का सिक्का आ गया, क्योंकि उस समय तक किसी राजे महाराजे को यह साहस न हुआ था कि इसे युद्ध करके अधीन कर लें। एक ओर तो इन जातियों ने पांडवों के सैनिक बल का डंका पीट दिया। दूसरी ओर महाराज युधिष्ठिर के न्याय और नीति की धूम मच गई। वेदविद्या के ज्ञाता युधिष्ठिर ने इस योग्यता से प्रबन्ध किया कि सारे देश में उनका यश फैल गया। देश देशान्तर की प्रजा यही चाहने लगी कि वह भी युधिष्ठिर की प्रजा बनकर उनके धार्मिक व्यवहार से लाभ उठावें।

इसका परिणाम यह हुआ कि एक एक करके अनेक प्रान्त उनके राज्य में सम्मिलित होते गये। बहुतेरों को उनके भाइयों ने जीत के मिला लिया और बहुत से सन्धि और मेल

से वश में आ गए। अभिप्राय यह है कि थोड़े ही काल में महाराज युधिष्ठिर का राज्य देश विदेश तक विस्तृत हो गया और सारे देश में कोई ऐसा राजा महाराजा न रहा जो सैनिक बल, सर्वप्रियता और सुप्रबन्ध में युधिष्ठिर की समता कर कर सके। अथवा जिस देश और जिसकी प्रजा ऐसे सुख में हो, जैसी कि युधिष्ठिर के थी। खांडवप्रस्थ के किसी युद्ध में अर्जु न ने मय नामी एक पुरुष को जीवन दान दिया था। इस युद्ध की समाप्ति पर जब अर्जु न और कृष्ण इन्द्रप्रस्थ लौट आए तो मय उनके पास आकर बोला, कि इस जीवन दान के प्रतिकार में मुझे कुछ सेवा मिलनी चाहिये। अर्जुन ने कहा कि मैंने तुम्हारे जान की रक्षा की है इसलिये मैं तुमसे उसके बदले में कुछ नहीं ले सकता। तुम स्वतन्त्र हो जहां चाहो जाओ और प्रसन्न रहो। मय इसके उत्तर में बहुत आग्रह करने लगा और बोला कि "हे पांडुपुत्र यद्यपि आपको यही उचित था जो आप ने कहा पर आपकी कुछ सेवा करने की मुझे उत्कृष्ट इच्छा है। मैं चाहता हूं कि आपकी कोई सेवा करके अपनी प्रवीणता दिखलाऊं, क्योंकि मैं अपने को इस समय का * विश्वकर्मा मानता हूं।

अर्जुन ने उत्तर दिया "हे मय! मेरा सिद्धान्त है कि मैंने तेरी जान बचाई इसलिये तुझसे बदले में कुछ न लूं पर यदि तेरी यही इच्छा है तो तू कृष्णजी की कुछ सेवा कर इससे मैं प्रतिकार पा जाऊंगा।

यह सुन कर मय कृष्ण से आग्रह करने लगा अन्त में कृष्ण ने कहा कि हे मय! यदि तू मेरे लिये कुछ कहना चाहता है

* सृष्टि कर्ता होने के कारण परमेश्वर विश्वकर्मा कहा जाता है, पर इसके शब्दों का अर्थ आज कल इंजिनियर कहा जाता है।

तो राजा युधिष्ठिर के लिये एक ऐसा राजसभा (महल) बना संसार में अद्वितीय हो और जैसा कि दूसरा कोई और न बना सके। (१)

मय ने विनय पूर्वक इस आज्ञा पूर्ति के निमित्त प्रण किया और कुछ काल में एक ऐसा विशाल और सुन्दर राजभवन निर्माण किया, कि जिसे देखकर सारे राजे महाराजे आश्चर्य्य में आ गए और मय के बुद्धिकौशल पर वाह वाह करने लगे।

पञ्चदश अध्याय।

राजसूय यज्ञ।

जब युधिष्ठिर का शासन और पाण्डवों का राज्य अपनी उन्नति के शिखर पर जा पहुँचा और पांचों भाइयों ने अपने

---

(१) इस प्रासाद का वर्णन करते हुए महाभारत में लिखा है कि इसका हाता ५ हजार हाथ का था। इसमें सुनहरे झरने लगे थे और सारा महल मोतियों की चमक से ऐसा जगमगाया करता था कि उसके सामने सूर्य्य का तेज भी मन्द देख पड़ता था। इसके पश्चात् एक जलाशय का वर्णन करते हैं, कि जिसका जल ऐसा स्वच्छ था कि नीचे की भूमि दिखाई देती थी। इधर उधर संगमरमर की सीढ़ियां थीं। जिनमें हीरे और दूसरे बहुमूल्य पत्थर जड़े हुए थे। चारों ओर बड़े २ वृक्ष थे। इनसे सटा हुआ एक बनावटी जंगल बनाया गया था। इस महल की प्रतिष्ठा के उपलक्ष में यज्ञ के दिन ५०० ऋषि और मुनि उपस्थित थे और देश देश के राजे महराजे आये थे। राजाओं की इस नामावली में हम मन्द्राज, कलिंग, बंगाल, कन्नौज, अन्धक, और मगध आदि देशों के राजाओं का नाम पाते हैं।

बाहुबल से सारे राजे महाराजों को अपने आधीन कर लिया तो दिगदिगान्तर में पांडवों की तूती बोलने लगी। कोई भी उनकी समानता न कर सकता था। राजकोष धनादि से परिपूर्ण हो गया। सेना भी वैसी ही थी देशदेशान्तर के शूर वीर आ २ के इनकी सेना में सम्मिलित हो गये। फिर राजसभा और राज प्रसाद ऐसे तैयार हो गए थे कि उनके जैसा न किसी ने देखा था और न सुना था ऐसी दशा में युधिष्ठिर और उनके भाइयों की यह (१) इच्छा हुई कि राजसूय यज्ञ करके महाराजाधिराज की उपाधि ग्रहण की जाय। जब महाराज ने यह इच्छा प्रगट की तो सारे धनाढ्य मंत्री, दर्बारी, पंडित, विद्वानों ने इसका अनुमोदन किया। और कहा कि आप प्रत्येक प्रकार से इस यज्ञ के करने की सामर्थ्य रखते हैं। पर फिर भी युधिष्ठिर को सन्तोष न हुआ और उन्होंने इसका अन्तिम निर्णय कृष्ण पर रख छोड़ा। एवं कृष्णजी को बुलाने के लिये भेजा गया। उनके आने पर युधिष्ठिर ने कहा कि हे कृष्ण! मेरे चित्त में * राजसूय यज्ञ करने की इच्छा उत्पन्न

(१) महाभारत में इसकी कथा इस प्रकार है कि एक दिन नारद युधिष्ठिर के दरबार में आये और उन्हें महाराज हरिश्चन्द्र की कथा सुनाकर कहा कि हरिश्चन्द्र ने रायसूय यज्ञ किया था जिस कारण उन्हें महाराज इन्द्र के दरबार में आसन मिला। यह सुनकर युधिष्ठिर को भी यह यज्ञ करने की इच्छा हुई।

* राजसूय यज्ञ एक प्रकार की रीति थी जिसके करने से महाराजाधिराज की उपाधि मिलती थी। इस यज्ञ का करने वाला राजा यज्ञ के एक वर्ष पूर्व एक घोड़ा खुला छोड़ देता था। यह घोड़ा अपनी इच्छा से जहां चाहता था घूमता था किसी का सामर्थ्य न था कि उसे बांध रखता

जरासंध बध पृ० सं० ७६
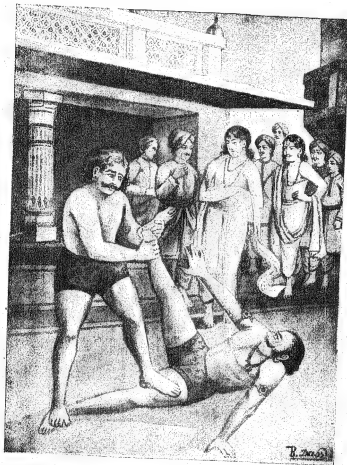
हुई है, पर मेरी इच्छा मात्र से वह यज्ञ पूरा नहीं हो सकता। आप जानते हैं, कि यह यज्ञ कैसे किया जाता है। केवल वही पुरुष इसे कर सकता है जिसकी शक्ति और बल असीम हो, जिसका राज्य सारी पृथ्वी पर फैला हो और जो राजाओं का भी राजा हो। मुझे सब लोग इस यज्ञ के करने की सम्मति देते हैं, पर मैंने सारी बातों का निर्णय आप पर रक्खा है। कोई तो केवल संकोच से मुझे इस बात की सम्मति देते हैं। उसकी कठिनाइयों को कोई नहीं विचारता। कोई अपने लोभ के विचार से सम्मति देते हैं और कोई मुझे प्रसन्न करने के हेतु समझाते हैं पर आप इन बातों से पृथक् हैं। आपने काम और क्रोध को भी वशीभूत कर लिया है। आपकी राय सर्वोपरि होगी। अतः आप मुझे ऐसी सम्मति दें जिसमें संसार का और मेरा भला हो।

श्रीकृष्ण जी ने उत्तर दिया कि हे राजन्! आप सब कुछ जानते हैं और प्रत्येक प्रकार से इस यज्ञ के करने के योग्य हैं, परन्तु तो भी जो कुछ मेरी समझ में आता है, निवेदन करता हूं।

इसके पश्चात् अपने समय के क्षत्रियों की दुर्गति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि क्षत्रियोंमें राजसूय यज्ञ करनेकी परिपाटी इस प्रकार चली आई है कि केवल वही पुरुष राज सूय यज्ञ कर सकता है जो सारे राजों का महाराज हो और चक्रवर्ती

या उसे कष्ट पहुँचाता यों एक वर्ष तक बिना रोक टोक घूमते रहने से ही सिद्ध हो जाता था कि सारे देश में कोई राजा घोड़े के स्वामी की बराबरी वा बड़ाई का दावा नहीं रखता। फिर एक बड़ा भारी यज्ञ किया जाता था, जिसमें देश के सारे राजे महाराजे सम्मिलित होते थे और यज्ञ का सारा काम अपने हाथोंसे करते थे। इस यज्ञका करने वाला इस प्रकार महाराजाधिराज माना जाता था।

कहलाता हो। जब तक मगध देश का राजा जरासन्ध स्वेच्छाचारी और स्वतंत्र बना है। बहुतेरे राजे महाराजे उसके आधीन हैं और उसके कारागार में बन्द पड़े हैं तब तक आप राजसूय यज्ञ नहीं कर सकते। जरासन्ध ऐसा प्रबल और प्रतापी है, कि सारे देश के राजा उसके सामने सिर झुकाते हैं। यहां तक कि हम को भी उसी के भय से अपना देश छोड़ना पड़ा। सारे देश के वीर योद्धा उसकी सेना में एकत्र हैं फिर कैसे संभव है कि उसके जीते जी आप इस यज्ञ को कर सकें। यह किसी प्रकार से संभव नहीं कि वह अपनी उपस्थिति में आपको राजसूययज्ञ करने दे। अतएव यदि आपकी यज्ञ करने की इच्छा प्रबल हो तो पहिले उसको पराजय करके उन राजको छुटकारा दीजिये जो उसके बन्दीगृह में पड़े हैं। इससे आपको कई पुण्य होंगे। एक तो उस पापी का विनाश करके अनेक असहाय बन्दियों के जीवनदान का पुण्य होगा, दूसरे आपको उलटा यश प्राप्त होगा और आप निर्भय होकर यज्ञ कर सकेंगे।

उपरोक्त बातें सुनकर युधिष्ठिर की सारी कामनाओं पर पानी फिर गया और फिर कहने लगे कि "हे कृष्ण! जब आप जरासन्ध के डर से भाग गये तो फिर मेरी क्या सामर्थ्य है जो मैं उसका सामना कर सकूं। वह केवल बलवान ही नहीं वरन् अन्यायी और अत्याचारी भी है। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक प्रकार के अशान्तियों के फैलने की संभावना है, जिसे मैं नहीं चाहता।" राजा के इन कायर वचनों को सुनकर भीमको जोश आया और कहने लगा कि "महाराज, इसमें सन्देह नहीं कि जो पुरुषार्थ हीन और निर्बल है और जिसके पास सामग्री नहीं, यदि वह अपने से सबल शत्रु से लड़ाई ठानेगा तो मुंह की खायगा। पर जो राजा सावधान है और नीति से चलता है यदि वह निर्बल भी है तथापि अपने शत्रु पर कभी २ विजयी

हो जाता है। आप के राज्य में कृष्ण के समान दूसरा नीति का जानने वाला नहीं। बल में कोई मेरी बराबरी नहीं कर सकता और अर्जुन तो दुर्जय है। जैसे तीन प्रकार की अग्नि के मिलने से यज्ञ होता है वैसे ही इन तीनों के मिल जाने से निश्चय जरासन्ध का नाश होगा।"

भीम के इस कथन को सुनकर कृष्ण बोले कि "अल्प बुद्धि वा विचारहीन मनुष्य बिना परिणाम का विचार किये ही अपनी कामनाओं की पूर्ति के निमित्त धुन में लग जाते हैं, पर फिर भी कोई शत्रु इस स्वेच्छाचार वा अल्पबुद्धि के कारण उस पर दया नहीं करता। इसलिए कोई काम बिना विचारे नहीं करना चाहिए। इससे पहिले कृतयुग में पांच महाराजों ने अपने अपने गुणों से चक्रवर्ती राजा की उपाधि पाई। किसी ने कर छोड़ देने से, किसी ने दया और न्याय से प्रजा को वश में करने से, किसी ने अपने तपोबल से और किसी ने अपने बाहुबल से। परन्तु तुम एक गुणसे नहीं वरन् इन सब गुणों से चक्रवर्ती राजा कहलाने के अधिकारी हो। तू भाग्यवान और प्रतापी है अपनी प्रजा की हर तरह से रक्षा करता है। क्षमाशील है और बुद्धिमान् है, पर जरासन्ध भी इस उपाधि का दावेदार है। उसके बल की सीमा इसी से लग जाती है, कि उसने क्षत्रियों के १०० घरानों को पराजय किया है और कोई उसका सामना नहीं कर सका। वह ऐसा अभिमानी है, कि जो राजा हीरा मोती पहिनता है वह अपना हीरा मोती उसे भेंट करता है तो भी वह प्रसन्न नहीं होता, क्योंकि वह बचपन से ही दुःशील है। सब से उच्च बनकर भी वह अपने आधीन राजों पर अत्याचार करता है और सबसे कर लेता है। किसी की सामर्थ्य नहीं, जो उसके सामने आवे। उसके बन्दीगृह में पड़े हुए अनेक राजे अपने जीवन के दिन काट रहे हैं पर फिर

भी है महाराज! यह याद रखना चाहिए कि रणक्षेत्र में मरा हुआ क्षत्री सीधा स्वर्ग को जाता है। इसलिये क्यों हम सब मिल कर जरासन्ध से लड़ाई न करें। ८६ राजघरानों को वह मिट्टी में मिला चुका है। १०० घराने में अब केवल १४ बचते हैं। जब वह १४ उसके आधीन हो जांयगे तो वह यज्ञ में हाथ लगा देगा। जो पुरुष उसको इस काम से रोकेगा मानों उसका तेज उसमें आ मिलेगा। इसलिये जो जरासन्ध को नीचा दिखावेगा वही राजों का महाराजा और राजसूय यज्ञ करने का अधिकारी है।

महाराज कृष्ण के भाषण को सुनकर युधिष्ठिर जी कहने लगे कि हे! कृष्ण यह कैसे हो सकता है कि मैं चक्रवर्ती राज की पदवी के लोभ में आकर तुमको जरासन्ध से लड़ने के लिये भेजूं। अर्जुन और भीम मेरे दोनों नेत्रों के समान हैं। और आप हे कृष्ण मेरे हृदय रूप हो। यदि मुझ से मेरे नेत्र और मेरा हृदय पृथक् कर लिया जावे, तो मैं किस प्रकार जीवित रह सकता हूँ। जरासन्ध की सेना को तो यमराज भी युद्ध में हरा नहीं सकते। तुम वा तुम्हारी सेना क्या चीज़ है। मुझे तो इस काम में भला नहीं दीख पड़ता। ऐसा न हो, कि परिणाम और का और ही हो जाय। इस लिये मेरी सम्मति है कि इस कार्य में हाथ न डाला जावे। हे कृष्ण! मेरी समझ में इससे पृथक् रहना ही बुद्धिमानी है। क्योंकि इसका पूरा होना अत्यन्त कठिन है।

यह सुनकर अर्जुन बोले कि हे राजन! क्षत्रिय का धर्म है कि वह अपने बाहुबल से शत्रुओं का बध करे और सदा अपना यश बढ़ाता रहे। क्षत्रिय के गुणों में वीरत्व सब से श्रेयकर है। वीरों के कुल में जन्म लेकर जो कायर हुआ वह घृणा के योग्य है। विद्वानों के समीप मनुष्य के लिये कुलीन वंशज होना

यद्यपि सबसे बढ़कर है परन्तु यदि कोई वीर ऐसे वंश में जन्म ले, जिसे वीरों के जन्म देने का पहिले सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था तो समझना चाहिये कि वह उससे भी बढ़कर है जिसने वीरों के वंश में जन्म लिया है। वीर सदा अपने शत्रु पर जय पाता है। परन्तु जो पुरुष वीरता के भरोसे असावधानी से काम करता हैं वह सदा सफल नहीं होता इसी से वीर या बलवान पुरुष कभी कभी बलहीन के हाथ से मारे जाते हैं। जैसे बलहीन पुरुष नीचता का शिकार बन जाता है, उसी तरह कभी बलवान् भी अपनी मूर्खता से मारा जाता है। इसीलिये जो राजा विजयी होने की इच्छा रक्खे, उसे इन दोनों बातों से बचना चाहिये। इसलिये हे राजन्! यदि हम अपना यज्ञ करने के लिये जरासन्ध का बध करें और उसके बन्दियों (कैदियों) को मुक्त करें, तो इससे बढ़कर अच्छा और काम कौन हो सकता है। पर भय से यदि हम इस काम से दूर रहें तो इससे हमारी मूर्खता और कायरता प्रकट होगी और लोग हमें कायर कहेंगे। इसलिये हे राजन्! आप हमें जगत् में क्यों लज्जित करवाते हैं। फिर कृष्णजी बोले, कि अर्जुन ने ठीक वही कहा है जो एक भारत सन्तान और कुन्ती पुत्र को कहना चाहिये था। यह जीवन स्वप्नवत् है इसका भरोसा नहीं कि किस समय मृत्यु आ पहुँचे। हमने यह भी नहीं सुना है कि लड़ाई से अलग रहने से जीवात्मा को अमरत्व प्राप्त हो जायगा। अतएव प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है, कि शास्त्रों के अनुसार अपने शत्रु पर चढ़ाई करे। क्योंकि इससे शांति मिलती है। जो पुरुष बुद्धिमानी से काम करता है उनको (यदि उसके पिछले कर्म खोटे नहीं हैं) निश्चय सफलता होती है यदि दोनों के कर्म अच्छे हैं और दोनों विचार कर चलते हैं। तब भी एक की जीत होगी और दूसरे की हार,

परन्तु जो बिना सोचे चलेगा वह अवश्य हारेगा। और यदि दोनों मूर्ख हैं तब भी आवश्यक है कि एक सफल हो, क्योंकि दोनों जीत नहीं सकते। इसलिये हम क्यों बुद्धिमानी से शत्रु पर चढ़ाई न करें। जल का प्रवाह बड़े बड़े वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकता है। जरासन्ध के वीर और प्रतापी होने में कुछ सन्देह नहीं, पर क्या डर है। यदि हम भी अपने सम्बन्धियों के हेतु उससे युद्ध ठानें। या तो हम युद्ध में उसे मारेंगे या स्वयं लड़ाई में मर सीधे स्वर्ग का रास्ता लेंगे।

जब युधिष्ठिर ने देखा कि अर्जुन और कृष्ण सब इस युद्ध के लिये कटिबद्ध हैं तो कृष्ण से उन्होंने जरासन्ध का इतिहास पूछा। कृष्ण ने सारा वृत्तान्त सुना कर अन्त में कहा कि जरासन्ध के बड़े बड़े योधा जिन पर उसे बड़ा भरोसा था वे सब मर गये हैं और इसलिये अब समय आन पहुँचा है कि उसका नाश किया जावे, किन्तु लड़ाई में उसे पराजित करना सम्भव नहीं। हमारा तो विचार है कि उससे मल्ल युद्ध करके उसका वध किया जावे। आप मेरी नीति और भीम के बल पर विश्वास रक्खें। अर्जुन हम दोनों की रक्षा करेगा हमारा तो विश्वास है कि हम तीनों मिलकर अवश्य उसको वध कर डालेंगे।

जब हम तीनों उसके पास जायंगे तो निश्चय वह हम में से एक के साथ लड़े। उसके अभिमान का विचार कर कहना पड़ता है कि वह अवश्य भीम से ही लड़ने को उतारु होगा। बस फिर क्या है जिस तरह मृत्यु दंभी पुरुष का विनाश कर देता है उसी तरह भीमसेन जरासन्ध का वध कर देगा। यदि आप मेरी आन्तरिक बात पूछते हैं वा आप को मुझ में कुछ भी श्रद्धा है तो आप अब तनिक भी देर न कीजिये और अभी अर्जुन और भीम को मेरे साथ कर दीजिये। युधिष्ठिर कब इन

ाोग्य बातों को सुनकर इनकार करता। कृष्णजी की अन्तिम अपील ने युधिष्ठिर को पिघला दिया और उन्होंने नम्रता पूर्वक कृष्णजी का हाथ चूमा और गद्गद् हो कहने लगे कि किसकी सामर्थ्य है जो कृष्ण और अर्जुन का सामना कर सके। और फिर जब भीम उनके साथ है। प्रत्येक चढ़ाई की सफलता सेना-पति की बुद्धिमत्ता पर निर्भर है। जिस सेना का आधिपत्य कृष्ण के हाथ में हो उसकी सफलता में क्या संदेह है? इसलिये हे अर्जुन! तुम्हें उचित है कि तुम कृष्ण में श्रद्धा रखकर उनको अपना अगुआ समझो और भीम को भी चाहिये कि अर्जुन के तेज को अपना अग्रगामी बनावे।

जहां नीति, तेज और शूरता ये तीन गुण एकत्र हो जाते हैं वहाँ सफलता हाथ जोड़े रहती है।

षष्ठदश अध्याय।

कृष्ण अर्जुन और भीम का जरासंध की राजधानी में स्नानतकों के वेष में जाना और उससे अपना हेतु प्रगट करना।

युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर अर्जुन और भीम कृष्ण के साथ अपनी राजधानी से बाहर निकले। हम पूर्व भी लिख चुके हैं कि कृष्ण का अभिप्राय यह था, कि जरासन्ध को मल्लयुद्ध करने पर प्रसन्न किया जाय। इसके लिये उन्हें सबसे पहिले जरासन्ध के दरबार में जाना आवश्यक प्रतीत हुआ परन्तु यदि वे अपने यथार्थ वेष में जावेंगे तो उन्हें राजधानी के अभ्यन्तर जाने की आज्ञा न मिलेगी। इसलिये तीनों ने स्नातक

का वेष धारण किया और गिरिराज की नगरी की ओर चले। जब नगर के निकट पहुंचे तो सोचने लगे कि शत्रु के घर में सदर मार्ग से जाना और फिर उस पर वार करना धर्म मर्यादा के विपरीत है। इसलिये यह निश्चय किया कि किसी गुप्त द्वार से अन्दर घुसना चाहिये। गिरिराज की नगरी के एक ओर एक ऊँची पहाड़ी थी जो रक्षा के हेतु भित्ति का काम देती थी। यह तीनों उस पहाड़ी पर चढ़े और उस पर होकर नगर में जा घुसे। स्नातक ब्राह्मण के वेष में फूलों की माला गले में पहन और देह में सुगन्धित तेल मलमल कर राजद्वार पर जा पहुँचे। और महाराज जरासन्ध से भेंट करने की इच्छा प्रगट की। महाराज ने जब सुना कि तीन स्नातक ब्राह्मण मेरे द्वार पर आये हैं तो शीघ्र अपने महलों से नीचे उतरा और सम्मान पूर्वक सामने आ खड़ा हुआ। पर इन्हें देखकर वह चकित हो गया। यद्यपि इनका वेष स्नातक ब्राह्मणों का था पर इनके प्रत्येक अंग से क्षत्रियत्व की झलक दीख पड़ती थी। परन्तु वह भी बड़ा चतुर था। उसने अपना भाव प्रगट होने नहीं दिया और पूजा करने के लिये झट आगे बढ़ा। उसके आगे बढ़ते ही दूसरी ओर से उत्तर मिला कि हम आप की पूजा को स्वीकार नहीं कर सकते। अब तो राजा का सन्देह और भी पक्का हो गया और उसने उनसे पूछा कि वे कौन हैं, और क्यों इस वेष में उसके सामने आकर उसकी पूजा ग्रहण नहीं करते।

कृष्ण बोले हे राजन! प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि वह स्नातकों के धर्म का अनुयायी बने। हम यद्यपि इस समय फूलों का हार पहिने हैं परन्तु हम इस समय स्नातक धर्म में हैं। और चूंकि हम तेरे शत्रु हैं और शत्रुता के विचार से तेरे सामने आये हैं। इसलिये न तो हम सदर फाटक से तेरे नगर

में आये और न तेरी पूजा स्वीकार की। वरन् एक शत्रु के समान पहाड़ी से नगर में उतरे हैं। जरासन्ध यह उत्तर सुन कर बोला कि हे पुरुष ! जहां तक मुझे याद आता है मैंने कभी तेरी कुछ हानि नहीं की है फिर तू शत्रु क्यों बना है ? ऐसा न हो कि तू किसी भ्रम में पड़ा हो। मैं तो सदा धर्म के अनुकूल काम करता हूँ।

कृष्ण ने उत्तर दिया कि हे नृप ! तुमने क्षत्रिय वंश पर बड़े बड़े अत्याचार किये हैं बहुतेरे राजाओं को तूने बिना प्रयोजन कैद कर रक्खा है। क्षत्रिय पुत्रों से तू शूद्रों का काम लेता है। राजपुत्रों पर तू नाना प्रकार के अन्याय करके अपने को निष्पाप समझता है। हम लोग धार्मिक पुरुष हैं। धर्म हमारा जीवन है और धर्म की रक्षा करना हमारा परम धर्म और कर्तव्य है। हमें परमेश्वर ने यह सामर्थ्य दी है कि हम धर्म की रक्षा कर सकें ! एवं यह सामर्थ्य रख कर तुझे तेरे दुष्कर्मों का दंड न देना अपने आप को पापपंकज में फंसाना है। अन्यायी का शिरोच्छेदा करना और पीड़ितों की सहायता करना प्रत्येक क्षत्रिय का धर्म है। और हम इस अभिप्राय से यहां आये हैं कि हे नृप ! तुझे याद रहे कि हम ब्राह्मण नहीं हैं। हम क्षत्रिय हैं मेरा नाम कृष्ण है, ये दोनों मेरे साथी पांडुपुत्र इनमें से एक का नाम अर्जुन है और दूसरे उनके भाई भीमसेन हैं। हम तुझसे मल्लयुद्ध करने आये हैं। या तो तू बन्दी क्षत्रियों को स्वतन्त्रता प्रदानकर जिनको तूने दास बना रक्खा है अथवा हम से युद्ध कर। हम क्षत्रियकुलभूषण महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से तुझसे अपनी जाति का बदला लेने के हेतु आये हैं। मृत्यु से तो हमें भय नहीं क्योंकि हमें विश्वास है कि धर्मयुद्ध से मरने में क्षत्रिय योद्धा को स्वर्ग प्राप्ति होती है। यदि तू अपने आप को पृथिवी पर महाबली समझता है तो यह तेरी

भूल है। क्योंकि अभिमानी पुरुष का संसार में नाश होता है। इस संसार में एक से एक बढ़कर प्रतिभाशाली पड़े हैं। इस लिये हे राजन्! अपनी बुराइयों को छोड़ परमेश्वर का डर मान और इन बन्दी राजाओं को छोड़ दे अथवा हम से युद्ध कर।

कृष्ण के इस लम्बी और प्रभावशाली भाषण को सुनकर जरासन्ध हंसा और बोला, हे कृष्ण तू जानता है कि मैं बिना युद्ध में पराजित किये किसी को भी बन्दी नहीं बनाता और मैं इतना डरपोक नहीं कि किसी की धमकियों से उन्हें स्वतन्त्र कर दूं। मैं युद्ध के लिये प्रस्तुत हूँ। या तो सेना सहित मुझसे युद्ध करो या तुममें से एक या दो या तीन मिल के मुझसे अकेले लड़ लो।"

कृष्ण बोले आपही बताइये कि हम तीनों में से आप किस से युद्ध करेंगे।

यह सुन कर जरासन्ध ने कृष्ण और अर्जुन की और देखा तो ये थके दुर्बल प्रतीत हुए। क्योंकि उनका शरीर दुबला पतला था। इसलिये उसने उनसे युद्ध करना अपनी मर्यादा से बाहिर समझ कर भीम से युद्ध करना उपयुक्त समझा।

जब भीम और जरासन्ध की जोड़ी निश्चित हो गई तो राजा जरासन्ध ने बहुत से ब्राह्मणों को यज्ञ करने के लिये बैठाया और आप राजमुकुट उतार केश बांध कर लड़ने के लिये मैदान में उतर आया। उधर से भीम भी मुकाबिले के लिये आ गये। हाथापाई होने लगी। चौदह दिन तक मल्ल युद्ध हुआ और दोनों ने ही अपने अपने दांव पेंच का अन्त कर डाला पर कोई भी पराजित न हुआ। निदान चौदवें दिन जरासन्ध का दम टूट गया जरासन्ध को थका हुआ देख कर कृष्ण ने भीम को ललकार कर कहा कि थके हुये शत्रु पर हाथ बढ़ाना उचित नहीं। इस पर भीम ने कहा कि यह नहीं मानता

कि मैं थक गया हूँ, और अभी लड़ने के लिये मेरे समुख खड़ा है। अतएव मैं किस तरह हट सकता हूँ। इसलिये फिर मल्ल-युद्ध आरम्भ हो गया और भीम ने जरासंध को उठाकर जोरसे दे मारा जिससे वह तत्काल मर गया।

जरासंध को मरते ही कृष्ण ने भीम अर्जुन को रथ पर बिठाया और आप सारथि बनकर दुर्ग में प्रवेश किया और सबसे पहिले उन राजाओं को वन्दीगृह से मुक्त किया जो वर्षों से उसमें पड़े सड़ रहे थे, फिर उन सब को अपने साथ लाकर नगर से बाहर डेरा डाल दिया।

इन सब राजाओं ने हीरे आदि रत्नों की भेंट की और प्रसन्नता पूर्वक अपने लिये कुछ सेवा के प्रार्थी हुए।

इस पर कृष्ण महाराज ने उत्तर दिया कि महाराजा युधि-ष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं। आपको चाहिये कि उनको इस यज्ञ में सहायता देकर अपनी शक्ति का परिचय दें। यह सुन सारे राजाओं ने एक मत से स्वीकार किया। जरासंध का पुत्र सहदेव भी भेंट लेकर उपस्थित हुआ और महाराज कृष्णचन्द्र ने उससे प्रसन्न हो सबके सामने उसको राजतिलक दिया और पिता के सिंहासन पर बिठा दिया। इन कामों से निश्चित हो आप वहां से चल दिये।

यह प्राचीन भारतवर्ष के युद्ध के नियम का नमूना है:—

(१) महाराज कृष्ण का स्नातक के रूप में पुष्प की माला पहन कर जरासन्ध के दर्बार में जाना।

(२) सदर फाटक से नगर में प्रवेश न करना।

(३) जरासन्ध की पूजा न लेना और निर्भीकता से अपने विचार उनपर प्रगट करना।

(४) जरासन्ध का भी उनकी इस कार्यवाही पर क्रुद्ध न होकर मल्लयुद्ध का स्वीकार कर लेना।

(५) जरासन्ध के मारे जाने पर उसके पक्ष वालों को अपनी हार स्वीकार करना और कृष्ण आदि पर चढ़ाई न करना।

(६) कृष्ण का जरासन्ध के पुत्र को सिंहासन पर बिठाना इत्यादि ऐसी घटनाएँ हैं जो आर्य्यजाति के उच्च सभ्यता को भलीभांति प्रमाणित करती हैं।

सप्तदश अयाय।

राजसूय यज्ञ की आरम्भ और युद्ध की जड़।

जरासन्ध को पराजित कर कृष्ण आदि महाराज युधिष्ठिर के दर्बार में वापस आये। युधिष्ठिर ने यथा योग्य उनका सम्मान किया और गद्‌गद हो कृष्ण को गले से लगाया। अब यज्ञ की तैयारियाँ होने लगीं। सभामण्डप बड़ी धूम धाम से सुशोभित किया गया। राजों महाराजों के पास दूत भेजे गये खाने पीने का अच्छा प्रबन्ध किया गया। दूर २ से वेदपाठी विद्वान् ब्राह्मण निमंत्रित किये गये हवन की सामग्री में बहु मूल्य सुगन्धि वाले पदार्थ मंगाये गये। दान देने के लिये सोना चाँदी, रत्न अच्छे २ वस्त्र भूषण एकत्रित किये गये। अतिथियों के ठहरने के लिये सुन्दर महल सजाये गये और कोसों तक डेरे और तंबू ताने गये।

[१) धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर, द्रोण, दुर्योधन, कर्ण तथा अन्य भ्रातृगण एकत्रित हुए।

---

(१) जिन राजों महाराजों का नाम महाभारत में, इस यज्ञ में सम्मिलित होने की सूची में दिया है, उससे ज्ञात होता है कि इस यज्ञ में सम्पूर्ण भारतवर्ष के राजा उपस्थित थे। दक्खिन के द्रविड और सिंघाला के राजाओं के नाम भी उस सूची में लिखे हैं। उत्तर दिशा में राजा कशमीर का, पूर्व दिशा

अब तैयारियां ठीक तौर से हो गई तो भाई बन्धुओं में से यज्ञ के कार्य्यकर्ता नियत किये गये। और श्रीकृष्ण ने यह कार्य स्वीकार किया कि जो ब्राह्मण यज्ञ कराने के लिये यज्ञशाला में जाय उसके चरण धो दें और यज्ञशाला पर पहरादें। इस प्रकार अब सब तैयारियां समाप्त हुईं और यज्ञ का प्रारम्भिक कृत्य होने लगा तो अब यज्ञकर्ता की ओर से सारे (२) अतिथियों को भेंट देने का समय आया। और भीष्म ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा कि हे युधिष्ठिर! अतिथियों के भेंट देने का समय आ गया है। अब तुम्हें उचित है कि प्रत्येक को यथा योग्य भेंट प्रदान करो। छः प्रकार के पुरुष तुमसे सम्मान पाने के अधिकारी हैं (१) गुरु, (२) हवन करने वाले पंडित, (३) सम्बन्धी, (४) स्नातक ब्राह्मण, (५) मित्र, (६) राजे महाराजे। सबसे पहिले उस पुरुष के सामने भेंट रक्खो जिसे तुम इस सारी सभा में श्रेष्ठ समझते हो। मुख से कह देना वा लेखनी से लिखना तो सहज है, पर ऐसी प्रतिष्ठित सभा में जहां विद्वान और वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण और शूरवीर क्षत्रिय राजे, महाराजे बैठे थे, वहां यह निर्णय करना बड़ा कठिन था कि कौन सब में श्रेष्ठ और सबसे अधिक गौरव का पात्र है।

में बंग (बंगाल) और लङ्का के राजों का नाम, पश्चिम दिशा में मालवा, सिन्ध इत्यादि का।

(२) प्राचीन आर्य्यावर्त में यह परिपाटी थी कि प्रत्येक धार्मिक कार्य के आरम्भ में कार्यकर्ता ऐसे पुरुषों को जो आदर सत्कार करने के अधिकारी होते थे "अर्घ" दिया करते थे। "अर्घ" बुरादा संदल, फूल, फल, फलारी इत्यादि से तैयार किया जाता था। हमने सरलता के कारण "अर्घ" की जगह "भेंट" शब्द का प्रयोग किया है।

एक ओर धृतराष्ट्र और भीष्म ऐसे सज्जन और ज्येष्ठ पुरुष दूसरी ओर द्रोण जैसा आचार्य तीसरी ओर शूरवीर और धनाढ्य राजे महाराजे थे। युधिष्ठिर चकित हो गये कि ऐसी वृहद् सभा में किसे सब का शिरोमणि मानूँ। निदान महाराज भीष्म से ही यह बतलाने की प्रार्थना कि इस महती सभा में कौन महान् पुरुष मुझ से पहले सम्मान पाने का अधिकारी है।

भीष्म ने उत्तर दिया कि हे युधिष्ठिर! इस सभा में कृष्ण सूर्य के समान चमक रहा है, एवं वही सब से बढ़ कर गौरव पात्र है उठिये! और सब से पहिले उन्हीं को भेंट दीजिये।

युधिष्ठिर ने कहा 'तथास्तु'

भीष्म के कहते ही एक ओर आनन्द ध्वनि गूंज उठी और दूसरी ओर मानो बज्रटूट पड़ा। उनकी सब आशाओं पर पानी फिर गया, और सन्नाटा छा गया। तत्काल सब को यह विदित हो गया कि कुछ न कुछ मनमोटाव हो गया। अतिथियों की मंडली में चेदी का राजा शिशुपाल बैठा हुआ था यह राजा महाराज कृष्णचन्द्र का मौसेरा भाई था। पर सदा से यह जरासन्ध के पक्ष में कृष्ण से लड़ता आया था। वह भीष्म के बचन सुनकर क्रोधान्त हो गया और भीष्म, युधिष्ठिर और कृष्ण को बुरा भला कहने लगा। उसके कथन का सार यह था कि युधिष्ठिर और भीष्म ने पहिले कृष्ण की प्रतिष्ठा करने से सारी सभा का अपमान किया है। कृष्ण कदापि इस पद के योग्य न था। न तो वह मुकुटधारी राजा है और न वयस् में बड़ा है। न वह आचार्य है और न सब से बलवान् योद्धा ही है। फिर क्यों उसे इस प्रकार सब से ऊंचा आसन प्रदान किया गया। तत्पश्चात् शिशुपाल ने उपस्थित राजाओं के नाम लिये और भीष्म को ललकारा कि आप ही बताइये कि इन सब

की उपस्थिति में क्यों कृष्ण की इस प्रकार प्रतिष्ठा की गई। उसने कहा कि यदि वयस का विचार हो तो उसके पिता वसुदेव, धृतराष्ट्र, द्रुपद, भीष्म और कृपाचार्य्य आदि ज्येष्ठ पुरुष उपस्थित हैं। यदि विद्या में देखा जाय तो द्रोण, कृपाचार्य्य, अश्वत्थामा तथा दूसरे महान् विद्वान् गण उपस्थित हैं। राजों में भी बड़े बड़े वीर योधा राजे दीख रहे हैं। फिर भीष्म ने क्यों इस मान के लिये कृष्ण का नाम लिया जो न आचार्य है, न राजा है, न वयस में बड़ा और न महाबली है।

जिसने कपट से राजा जरासन्ध का बध किया। बड़े दुख की बात है कि भीष्म ने पक्षपात से यह अधर्म का काम किया है और सब से अधिक खेद इस बात का है, कि युधिष्ठिर ने धर्म का अवतार होकर इस निर्णय को स्वीकार कर लिया। और धिक्कार है कृष्ण पर जिसने इस अधम व्यवस्था को स्वीकार किया।

इसके पश्चात् लिखा है कि वह अपने साथियों सहित सभा से उठ कर चल दिया।

युधिष्ठिर उसे मनाने लगे और कहा कि शिशुपाल! देख जितने विद्वान् और योद्धागण बैठे हैं सब इस बात को मानते हैं कि कृष्ण ही इस सम्मान के उपयुक्त हैं। फिर तू क्यों ऐसे कठोर बचन बोलता है।

भीष्म ने भी उत्तर में कहा कि शिशुपाल धर्म-मार्ग से अज्ञात है। क्षत्रियों की यही मर्यादा है कि जो शत्रु पर जय पाकर उसे छोड़ दे वह उसका गुरु हो जाता है। कृष्ण न केवल महाबली क्षत्रिय है जिसने हजारों क्षत्रियों को स्वतन्त्रता प्रदान की है बरन् वह वेदों का ज्ञाता और विद्वान् है और इस लिये सर्वगुण सम्पन्न होने से हम सबमें से अधिक मान पाने योग्य है।

फिर सहदेव (युधिष्ठिर का छोटा भाई) कहने लगा कि

यदि इस सभा में कोई पुरुष द्वेष वश कृष्ण के तेज और मान का सहन नहीं कर सकता तो उसके सिर पर मेरा पैर है। यदि वह वीर है तो मैदान में आवे, नहीं तो सबको उचित है कि भीष्म के निर्णय को स्वीकार करें। निदान ऐसा ही हुआ पर जब पांडवों ने कृष्ण को भेंट चढ़ाई तो शिशुपाल फिर भीष्म और कृष्ण को बेतुकी बातें सुनाने लगा, जिसका अंत यह हुआ कि दोनों दल में विवाद आरम्भ हुआ। एक ओर पांडव दल वाले कृष्ण की स्तुति करते थे और दूसरी ओर शिशुपाल उनके अवगुण का वर्णन करता था। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार कुछ समय तक वादाविवाद होता रहा। बिचारा युधिष्ठिर अत्यन्त दुखित होकर दोनों पक्ष वालों को शांत कर रहा था। पर उसकी कोई सुनता न था, निदान उसने भीष्म से कहा कि पितामह! इस झगड़े को अब आपही शान्त कीजिये। भीष्म ने उत्तर दिया कि जब शिशुपाल और उसके पक्षवाले समझाने से नहीं मानते तो फिर इसके अतिरिक्त दूसरी क्या बात है, कि यदि उनमें से कोई अपने आपको कृष्ण से बली समझे तो वह उनसे युद्ध के लिये बढ़कर देख ले। फिर आप ही निर्णय हो जायगा, कि कृष्ण इस मान के योग्य था वा नहीं? जब शिशुपाल ने जी खोल कर कृष्ण और भीष्म आदि को गालियां दे लीं तो नादान बोल बैठा कि अच्छा यदि कृष्ण वीर है तो मेरे साथ युद्ध कर ले। कृष्ण की जय हुई और शिशुपाल मारा गया। शिशुपाल के सारे पक्षपाती अपना सा मुंह लेकर रह गये। महाराज युधिष्ठिर ने पहिले शिशुपाल का संस्कार किया। फिर उसके पुत्र को राजतिलक देकर यज्ञ रचाया। यज्ञ की समाप्ति पर जब सब अतिथि विदा हो चुके तो कृष्ण भी युधिष्ठिर और द्रौपदी की आज्ञा से द्वारकापुरी को लौट आये।

शिशुपाल बध
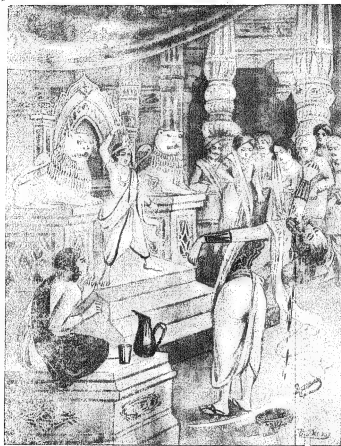
पृ० सं० ८२
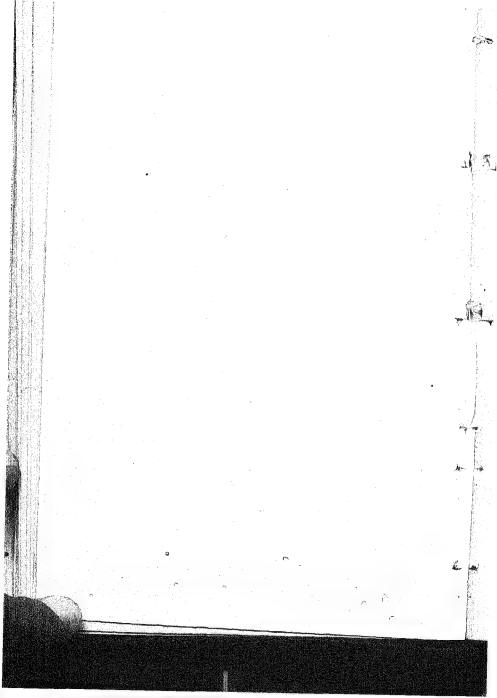
अष्टादश अध्याय।

कृष्ण का पांडवों से मिलने जाना।

प्रत्येक हिन्दू इस बात को भली प्रकार जानता है, कि राजसूय यज्ञ की समाप्ति पर दुर्योधन और उसके पक्षवालों ने धूर्तता से महाराज युधिष्ठिर को जुआ खेलने पर तत्पर करके उनसे उनका सारा राजापाट जीत लिया। यहां तक कि जुए में अपनी पत्नी और अपने आपको दांव पर लगा दिया। यह दांव भी खाली गया। इसके पश्चात् शकुनि का द्रौपदी को घसीट कर सभा में लाना, द्रौपदी का विलाप करना, और सभा में हाहाकार मचना इत्यादि इत्यादि घटनायें ऐसी हैं, जिनका कृष्ण के जीवन से वास्तव में कोई सम्बन्ध नहीं। यहां इतना कह देना पर्य्याप्त होगा कि अन्त में महाराज धृतराष्ट्र की आज्ञा से द्रौपदी सहित पाण्डवों को १२ वर्ष के लिये कठोर बनवास दिया गया। जब इनके भाई बन्धु तथा इष्ट मित्रों को इस विपत्ति का समाचार मिला तो वे एक एक करके इनसे मिलने और उनके साथ सहानुभूति प्रगट करने के लिये आने लगे। महाराज कृष्ण ने जब यह वृत्तान्त सुना तो अत्यन्त दुःखी हुए और बहुत से साथियों को लेकर इनसे मिलने गये।

युधिष्ठिर और अर्जुन इत्यादि की दुर्दशा देखकर बड़े क्रुद्ध हुये। पर जब द्रौपदी के सामने गये तो उसने मारे विलाप के पृथिवी आकाश मिला दिया। रो रो के अपने पति और दूसरे सम्बन्धियों को बुरा भला कहने लगी। अपने अपमान की कथा सुना कर भीम और अर्जुन की वीरता पर आक्षेप किया और अन्त में यहां तक कह डाला कि मेरे लिये तो मेरे सारे सम्बन्धी और मित्र मर गये, क्योंकि जब शत्रुओं ने मुझे भरी सभा में अपमानित किया तो किसी ने भी मेरी सहायता न की।

द्रौपदी के इस करुण विलाप को सुन कर कृष्णजी ने उस से प्रतिज्ञा की कि हे प्यारी! मैं तुझ से प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे शत्रुओं से इस अनीति का बदला लूंगा। तुझे तेरा राजपाट पुनः दिला कर राज सिंहासन पर बिठाऊंगा। हे द्रौपदी! तू मत रो, आकाश टूट पड़े, धर्ती फट जावे पर मेरा प्रण असत्य न होगा।

इस प्रकार सम्बोधन करके जब कृष्णचन्द्र महाराज युधिष्ठिर के पास आये तो उनको बहुत कुछ उपदेश दिया और जूआ खेलने की हानि बताते रहे।

उनविंशत अध्याय।

माहाराज विराट के महलों में पाण्डु पुत्रों के सहायकों को सभा।

धृतराष्ट्र ने जब युधिष्ठिर को जूआ में हारने पर १२ वर्ष का बनवास दिया तो उसके साथ यह बन्धन लगा दिया था कि १३ वें वर्ष पांडुपुत्र वेष बदल कर ऐसी सेवावृत्ति से जीवन निर्वाह करें जिससे कि दुर्योधनादि को उनका पता न लगे। १२ वर्ष का देश निकाला व्यतीत हो जाने पर पांचों पांडवों ने द्रौपदी और अपने पुत्रों सहित महाराज विराट के यहां नौकरी कर ली। और ऐसी युक्ति से अपने को छिपा रखा कि १२ महीने तक विराट को पता न लगा कि उसके किंकरों में ५ क्षत्रिय-कुल-भूषण वचन-बद्ध होकर उसकी सेवा टहल कर रहे हैं। दुर्योधन को बहुत खोज करने पर भी उनका कुछ पता न लगा। देश निकाले के दिनों में इनके भाई बन्धु इनकी भेट के लिये आते और इनकी सहायता करते थे। कृष्ण

और उनके भाई बलराम भी इनके पास कई बार आये और बहुत दिनों तक उनके साथ रहे। एक बार बलरामजी ने यह प्रस्ताव किया कि युधिष्ठिर इत्यादि निज प्रतिज्ञा के अनुसार बनवास करें। पर उनके सम्बन्धी और मित्रगण दुर्योधन पर चढ़ाई करके उससे उनका देश लौटा लें। और अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु को प्रबन्ध के लिये सौंपदें। कृष्ण ने उत्तर में निवेदन किया कि जो कुछ आप कहते हैं वह हो सकता है पर पांडवों को यह कब ग्राह्य होगा कि दूसरे के परिश्रम का फल आप भोगें और इस प्रकार अपने क्षत्रिय धर्म पर धब्बा लगावें।

कृष्ण के इस कथन पर युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे कि मुझे राज की इतनी इच्छा नहीं जितना मुझे धर्म का विचार है। यदि मुझे स्वर्ग का राज मिले तो भी सचाई से मैं नहीं हट सकता। इस चार दिन के जीवन के लिये मैं कभी अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं कर सकता।

युधिष्ठिर और उनके भाइयों ने बड़े कष्ट और विपत्ति आपदाओं का सहन किया। अपनी प्रिय धर्मपत्नी का अपमान अपनी आंखों से देखा। नीच से नीच सेवा करना पसन्द किया, पर अपने वचन का पूर्णरीति से निर्वाह किया और १३ वर्ष तक राजपाट की ओर ध्यान तक न किया।

प्रिय पाठक! लीजिये तेरहवां वर्ष समाप्त होता है, और महाभारत की नींव अभी से पड़ने लगी है। आइये इस महान् युद्ध की कथा महाराज विराट के महलों में हो रही है। भारतवर्ष के विख्यात राजे महाराजे और विद्वान् ब्राह्मण एकत्र हैं और सोच विचार कर रहे हैं कि युधिष्ठिर का राज उसे दिला देने के लिये अब क्या कार्यवाही करनी चाहिये इस कौंसिल को वार-कौंसिल कहें, पोलिटिकल कौंसिल कहें या धर्मसभा कहें। आपकी जो इच्छा हो इसका नाम धरें, क्योंकि इसमें सभी

पक्ष के कुछ २ भाव पाये जाते हैं। हर एक पक्ष को पूरे तौर से समझने और उससे आनन्द उठाने के लिये अपने को तैयार कीजिये क्योंकि इसके सभासदों की वक्तृतायें गूढ़ और सार-गर्भित हैं। उस समय के राजाओं में से जितने युधिष्ठिर के पक्ष में थे, वे सब इसमें विद्यमान हैं। एक ओर कृष्ण भी अपने पिता और भ्राता सहित बैठे दीख पड़ते हैं, सबसे पहिले कृष्ण जी बोले कि:—

युधिष्ठिर की दुःख कथा आप सब महाशयों पर विदित है। दुर्योधन ने युधिष्ठिर और उनके भाइयों का नाश करने के लिये जो २ युक्तियां समय समय पर लगाई हैं, वह भी आप सब भली भांति जानते हैं। युधिष्ठिर ने जैसे जैसे उसका सामना किया है तथा लड़ाई और सन्धि में उनके धर्माचरण भी आपको विदित हैं। सारे आर्य्यावर्त में किसी की शक्ति नहीं जो अर्जुन और भीम का सामना करके युद्ध में उनपर विजय पा सके। पर फिर भी युधिष्ठिर अधर्म, अन्याय वा अनीति से किसी का राजपाट नहीं लिया चाहते। अन्याय से यदि उसे स्वर्ग का राज्य मिले, तो वह उसे स्वीकार नहीं कर सकता, और न्याय से यदि उसे एक गांव मिले तो वह उसी पर सन्तोष कर लेगा। युधिष्ठिर और उसके भाइयों ने धृतराष्ट्र से जो जो प्रतिज्ञायें की उनका एक एक अक्षर पूरा कर दिखाया इसलिये अब धृतराष्ट्र को उचित है कि उनका राजपाट उन्हें लौटा दें पर हम नहीं कह सकते कि दुर्योधन का अभ्यन्तर क्या है इसलिये मेरा प्रस्ताव है कि एक माननीय सदाचारी तथा धर्मात्मा दूत उसके पास भेजा जाये, जो दुर्योधन का अभ्यन्तर जान के उसे इस वार्ता पर तत्पर करे कि वह युधिष्ठिर का आधा राजपाट बांट कर उसे दे दे और उससे मेल करले।

कृष्ण के बड़े भाई बलराम ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। और इस बात के लिये दुःख प्रकट किया कि युधिष्ठिर ने जूए के दाँव में अपना सारा राजपाठ गंवा दिया। उन्होंने भी सन्धि कर लेने पर ज़ोर दिया।

उपरोक्त बातों को सुनकर सात्यकि नाम का एक राजकुमार उठकर बोला कि संसार में दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं, अर्थात् वीर और कायर। जिस वृक्ष में फल लगते हैं उसकी कोई २ शाखायें मुरझाई होती हैं और उनमें कभी फल नहीं लगता। मुझे इन दोनों कायरों की बातों पर दुःख नहीं, मुझे उन पर खेद होता है, जो मौन साधे उनकी वक्तृता को सुन रहे हैं। क्या कोई विचारवान् पुरुष मान सकता है, कि जुआ खेलने में युधिष्ठिर का अपराध था, क्षत्रिय का धर्म है कि यदि उससे कोई वरदान मांगे तो वह उससे मुँह न मोड़े। दुर्योधन ने चालाकी से ऐसे पुरुषों को युधिष्ठिर से जुआ खेलने के लिये अग्रसर किया जो इस विद्या में निपुण थे। युधिष्ठिर धर्मानुसार खेलते रहे और हार गये। इसमें उनका कोई अपराध नहीं कहा जा सकता। उन्होंने अपने वचन को अन्त तक पूरा रखते हुए निभाया। क्या ऐसी दशामें अब उनको उचित है कि वे दुर्योधन से निर्बल और कायरों के सदृश संधि करने की भिक्षा मांगे।

हम जानते हैं कि दुर्योधन दुराचारी और असत्यवादी है। क्या आपने नहीं सुना कि यद्यपि युधिष्ठिर ने निज प्रतिज्ञानुसार १३ वर्ष का बनवास पूरा कर दिया पर दुर्योधन अब यह कहता है; कि १३ वें वर्ष में हमने उनको पहचान लिया। भीष्म और द्रोण उसे बहुत समझाते हैं पर वह नहीं मानता। अतएव मेरी सम्मति में तो उसे युद्ध की सूचना दे देनी चाहिये। यदि वह युधिष्ठिर के पैरों पड़े, तो ठीक है। नहीं तो

उसे उसके साथियों सहित यमलोक को पहुँचा दिया जाये। किसमें सामर्थ है कि अर्जुन और भीम जैसे योद्धाओं से युद्ध करे। इसलिये हे सज्जनो! उठो और जब तक दुर्योधन को दण्ड न देलो, दम न लो।

फिर महाराज द्रुपद कहने लगे कि हे वीर! मैंने तेरी वक्तृता सुनी। मैं तुझसे सहमत हूँ। मेरी भी सम्मति है कि दुर्योधन यों सन्धि पर सहमत न होगा। धृतराष्ट्र अपने पुत्रों के वशीभूत होने के कारण उनका साथ देगा। भीष्म और द्रोण चित्त के ऐसे निर्बल हैं कि वे उसका साथ नहीं छोड़ेंगे। यद्यपि बलराम की सम्मति ठीक है पर मैं नहीं मान सकता, कि दुर्योधन से चापलूसी की बातें करने से कुछ लाभ होगा। गधे के साथ नरमी करने से कार्य सिद्ध हो सकता है पर भेड़िया नरमी के बर्ताव का पात्र नहीं। अतएव मेरी सम्मति है कि हम शीघ्र युद्ध की तैयारियां आरम्भ करदें, और अपने इष्ट मित्र तथा सम्बन्धियों को पत्र लिखदें कि वे अपनी अपनी सेना सहित तैयार रहें। और इस बीच में एक दूत दुर्योधन के पास भेजें। मेरे पुरोहित उपस्थित हैं, इन्हें दूत बना कर भेज दिया जाय कि वह दुर्योधन से जाकर कहें।

महाराज द्रुपद की प्रस्ताव सर्व सम्मति से पास हो गया सभा विसर्जन हुई। दूत रवाना किये गए और कृष्ण और बलदेव द्वारिकापुरी को लौट आये।

विंशत अध्याय।

दुर्योधन और अर्जुन का सहायता के लिये कृष्ण के पास द्वारिका जाना।

महाराज विराट के महल में जो सभा हुई उसकी कार्यवाही

दुर्योधन को भी पहुँच गई। जिस पर दुर्योधन ने यह विचारा कि किसी प्रकार कृष्ण को पांडवों की सहायता से रोकना चाहिए। अतएव वह द्वारिकापुरी की ओर चला। उसने यह सोच लिया, कि यदि मेरी प्रार्थना स्वीकृत हो गई तो यह समझना चाहिए, कि मैंने युधिष्ठिर के दो बलवान् सहायकों को कम कर दिया और यदि मेरी प्रार्थना स्वीकृत न हुई तो मुझे कृष्ण पर सदा के लिये यह शिकायत बनी रहेगी कि यद्यपि मैं पहिले सहायता की जांचना की थी, पर उन्होंने मेरी सहायता न की और मेरे विरुद्ध लड़े पर संयोग से जिस दिन दुर्योधन द्वारिका पहुँचा उसी दिन अर्जुन भी वहां पहुँच गये। जिस समय दुर्योधन कृष्णजी के महल में पहुँचा उस समय कृष्णचन्द्र सो रहे थे। दुर्योधन उनके सिरहाने एक कुर्सी पर बैठ गया। इतने में अर्जुन भी वहां आन पहुँचा और उनके पायतें हो बैठा। जब कृष्णजी जागे तो उनकी नज़र पहिले उठते ही अर्जुन पर पड़ी फिर दूसरी ओर जो देखा तो दुर्योधन को भी सिरहाने बैठा पाया। दोनों ओर से जब कुशल क्षेम पूछी जा चुकी तो महाराज दुर्योधन बोले कि हे कृष्ण, मैं तुम से पांडवों के विरुद्ध युद्ध में सहायता मांगने के हेतु आया हूँ, और मैं पहिले आया हूँ इसलिये पहिले मेरी प्रार्थना स्वीकार करनी चाहिए। हम दोनों का आपसे समान सम्बन्ध है और हम दोनों ही तुम्हारे मित्र हैं ऐसी दशा में मेरी प्रार्थना पहिले हुई है और वह स्वीकृत होनी चाहिये।

इस पर कृष्ण जी बोले कि हे दुर्योधन! तू ने जो कहा वह सत्य है। यद्यपि तू पहिले आया है। पर मेरी द्रष्टि पहिले अर्जुन पर पड़ी, इसके अतिरिक्त अर्जुन तेरे से छोटा है। इस लिये मुझे दोनों की सहायता करनी स्वीकृत है। एक ओर मेरी सारी सेना है और दूसरी ओर मैं अकेला बिना किसी शस्त्र के

हूँ। मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है कि इस लड़ाई में शस्त्र नहीं चलाऊंगा। इसलिये मैं पहिले अर्जुन को मौका देता हूँ कि वह सुन ले कि क्या वह मेरी सारी सेना को लेना पसन्द करता है या मुझे। यदि उसने मुझे अकेले की सहायता चाही तो मेरी सारी सेना तेरी सहायता को प्रस्तुत है और यदि उसने मेरी सेना पसन्द की तो मैं अकेला तेरी सेवा करने को उपस्थित हूँ। दुर्योधन ने इस बात को पसन्द किया इस लिये जब अर्जुन से पूछा गया तो उसने उत्तर दिया, कि मुझे महाराज कृष्णचन्द्र की निज सहायता चाहिए। मुझे उनकी सेना नहीं चाहिए। अर्जुन के ऐसा कहने पर दुर्योधन भीतर ही भीतर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कृष्णचन्द्र की सारी सेना सहायता के हेतु ले जाना स्वीकार कर लिया। बलराम के साथ भी दुर्योधन ने यही चाल चली पर उन्होंने यह कहा कि मैं किसी पक्षको सहायता करना नहीं चाहता जब दुर्योधन बिदा हो चुका तो कृष्ण जी ने अर्जुन से पूछा कि हे राजपुत्र! तू ने मेरी दैहिक सहायता को मेरी सारी सैना पर क्यों श्रेष्ठ समझा? अर्जुन ने कहा आपकी सारी सेना से युद्ध करने के लिये तो मैं अकेला काफी हूँ। संसार में एक बुद्धिमान् पुरुष लाख मूर्खों से बढ़कर शक्ति रखता है। आपने इस युद्ध में शस्त्र के हाथ में न लेने की प्रतिज्ञा की है अतएव मेरी इच्छा है कि आप मेरे रथ के सारथि बनें। मेरे पास यदि आप जैसे सारथि हों तो किसमें सामर्थ्य है कि वह मेरा सामना कर सके और फिर मुझसे बचकर चला जाय।

कृष्ण जी ने ऐसा करना स्वीकार कर लिया।

—:***:—

इक्कीसवां अध्याय।

संजय का बनाना।

महाराज द्रुपद ने जो दूत पांडवों की ओर से धृतराष्ट्र के पास सन्धि के लिये भेजा था उसे कुछ सफलता नहीं हुई। और दोनों ओर से युद्ध की तैय्यारियां इस प्रबलता से होती रहीं कि सब को विश्वास हो गया कि आर्यावर्त की सारी वीरता और श्रेष्ठता का इसी युद्ध में खातमा हो जायगा। दोनों तरफ के शूरवीर मस्त हाथियों के सदृश झूमते फिरते थे। शंख, घड़ियाल घंटे आदि की ध्वनि से आकाश पाताल गूञ्ज रहा था। घोड़ों की हिनहिनाहट से निकटस्थ बात सुनाई नहीं पड़ती थी। धन दौलत के लोभ से भाई भाई के रक्त के प्यासे हो रहे थे। चचा भतीजों के प्राण का ग्राहक था। भीष्म वचन-बद्ध होकर उन भतीजों के विरुद्ध युद्ध करने पर उतारू हो गये थे। जिनके प्रति उनके चित्त में प्रगट प्रेम था और जिन्हें वे उचित मार्ग पर चलना सिखाते थे। द्रोण सोचते थे कि इस युद्ध में उसके सारे शिष्य परस्पर लड़ मरनेपर कटिबद्ध हो गये हैं। यद्यपि वे दुर्योधन की सेना की तरफ थे पर अन्तःकरण से युधिष्ठिर के सहायक थे। वे जानते थे कि दुर्योधन का पक्ष अन्याय और अधर्म पर है और युधिष्ठिर का सचाई पर है।

पर इन सब में धृतराष्ट्र बड़ा भयभीत हो रहा था। उसका अन्तःकरण कहता था कि युधिष्ठिर सच्चा है, पर राज्य के लोभ वा अपने पुत्रों के भय से युद्ध को रोक देने की शक्ति नहीं थी। उसे दिन रात चैन न थी। उसे पहले ही मालूम हो गया था कि इस युद्ध में न तो बेटे बचेंगे और न भतीजे ही, सारा कुल नष्ट हो जायगा और वह राजपाट, जिसके लिये परस्पर युद्ध करने पर उतारू हैं दूसरों के अधीन हो जायेगा।

निदान बड़े सोच विचार के बाद उसने युद्ध के पूर्व युद्धि-ष्ठिर की धर्मप्रवृति को परिवर्त्तन करने का उपाय सोचा और एक संजय नामक विद्वान् ब्राह्मण को दूत बनाकर युधिष्ठिर के दर्बार में भेजा, कि वह युधिष्ठिर को इस भयानक युद्ध से रोकने का उपदेश करे।

एवम् महाराज धृतराष्ट्र का भेजा हुआ दूत युद्धिष्ठिर के खेमे में गया।

युधिष्ठिर ने संजय का बड़ा आदर सत्कार किया। जब युधिष्ठिर ने उससे आने का कारण पूछा तो संजय बड़ी नम्रता से युधिष्ठिर को युद्ध की बुराइयां सुनाने लगा और कहा कि केवल राज्य के लिये लड़ना और सम्बन्धियों का वध करना महापाप है। तुम्हें उचित है कि इस विचार को छोड़ दो और जान जाने पर भी अपने भाइयों और सम्बन्धियों पर आक्रमण न करो। एक तो इन दोनों पक्ष वालों को एक दूसरे पर विजय पाना बड़ा कठिन है फिर यदि तू जीत भी गया तो इससे क्या सुख प्राप्त हो सकता है। इसलिये ऐसे युद्ध से अपनी आत्मा को कलंकित न कर और सन्धि कर ले।

युधिष्ठिर ने जो इसके उत्तर में कहा वह हमारे पुस्तक से सम्बंध नहीं रखता यहां इतना कह देना पर्याप्त होगा कि युधिष्ठिर ने संजय को अच्छी तरह से समझा दिया कि यद्यपि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने हम पर बड़े २ अन्याय किये हैं और मेरे भाई उनसे बदला लिया चाहते हैं किन्तु मैं संधि करने पर राजी हूँ यदि मुझे मेरी राजधानी इन्द्रप्रस्थ दे दी जाय।

चूंकि संजय अपने स्वामी की तरफ से उसके हानिलाभ पर तर्क वितर्क करने को आया था, इस लिये उसने युक्ति से अधिक काम लिया और युधिष्ठिर को संसार के नाशवान् होने पर खूब समझाया। आजकल के कतिपय मत मतान्तरों की

तरह युधिष्ठिर को उपदेश देने लगा कि हे राजन्! संसार में काम सारी बुराइयों का जड़ है। जो निष्काम हैं वही परमात्मा को प्राप्त हो सकते हैं। काम ही हमको सांसारिक बन्धन में फंसाता है और बार २ जन्म मरण के श्रृंखला से निकलने नहीं देता। ज्ञानवान सांसारिक पदार्थों को तुच्छ समझता है, और कर्मोंके बन्धन से स्वतन्त्र रहता है। तू ज्ञानवान होकर फिर क्यों ऐसा कर्म करता है जो निन्दनीय है। संसार के जितने सुख दुःख सब क्षणिक हैं। जो पुरुष संसार के सुखों की इच्छा करता है, वह उन सुखों के पीछे धर्म भी गवाँ बैठता है। मेरी सम्मति में राज्य के लिये युद्ध करने से भिक्षा मांग कर पेट भरना अच्छा है। क्योंकि युद्ध में मनुष्य नाना प्रकार के पाप करता है, इसलिये हे युधिष्ठिर! तू इस काम से अपनी आत्मा को भ्रष्ट न कर। तू वेदों का ज्ञाता है। और तूने पूर्ण ब्रह्मचर्य्य का पालन किया है और यज्ञ किये हैं। तुझ को निन्दनीय कार्यों से कलंकित करना शोभा नहीं कर देता। हे राजन्! इस पाप से तेरी सारी तपस्या और आत्मा की पवित्रता नष्ट हो जायगी। युद्ध तेरे भावों के विरुद्ध है। तू क्रोध के वशीभूत हो युद्ध करने पर तत्पर हो गया है, परन्तु याद रख कि क्रोध सब पापों की जड़ है प्रत्येक को क्रोध को और अपनी इन्द्रियों को वश में रखना परम आवश्यक, हे राजन! अपने क्रोध को शान्तकर और अपनी आत्मा को उस महा हत्या से बचा। अपने पितामह, भाई, भतीजे, तथा इष्ट मित्रों के बध से तुझे क्या मिलेगा। तेरे इस कार्यसे लाखों घर नाश हो जायंगे। घर घर में रोना पीटना मच जायगा। लाखों स्त्रियां तेरा नाम लेकर रोयेंगी और तुझे कोसेंगी। इस विध्वंश के बाद यदि तुझे राज पाट मिल भी गया तो क्या वह शान्तिदायक होगा। क्या इस राज्य से तू मृत्यु वा वृद्धावस्था के पंजे से मुक्त हो

जायगा। फिर क्यों पाप से अपने हाथ रंगता है। वह तेरे शत्रु हैं जो तुझे युद्ध करने की सम्मति देते हैं। यदि तेरे सलाह देने वाले इस सम्मति को नहीं बदलते तो तू इस सिद्धान्त और राज पाट को छोड़ कर बन का रास्ता ले। यदि यह नहीं हो सकता तो और कुछ कर, पर युद्ध का आश्रय न ले।

इस विस्तृत वक्तृता के उत्तर में युधिष्ठिर ने संजय से कहा कि हे संजय! मुझे इस उपदेश देने से पूर्व तुझे चाहिये था कि तू धर्म और अधर्म के लक्षण वर्णन करता जिसे सुन कर हम निश्चय कर सकते कि युद्ध करना धर्म है वा अधर्म। तू जानता है कि धर्म और अधर्म का निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। इस लिये प्रत्येक पुरुष का कर्तव्य है कि अपने वर्ण आश्रम के धर्म का पालन करे। यह भी जानता है कि आपत्ति काल का धर्म भिन्न होता है। दोनों लोकों के राज्य मिलने पर भी मैं धर्म नहीं छोड़ सकता मैं जो कुछ करने लगा हूँ वह धर्म के अनुकूल है। फिर भी कृष्ण हम सब में पवित्र विद्वान् और धर्म शास्त्र में निपुण हैं। कृष्ण से व्यवस्था ले लो कि इस समय क्या धर्म है। जो कुछ वह व्यवस्था देंगे वह मुझे स्वीकृत होगा।

इस पर कृष्णजी ने संजय की ओर फिर कर इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

हे संजय! तू जानता है कि मैं दोनों पक्ष वालों का हितू हूँ। मैं नहीं चाहता कि कौरव और पांडव परस्परमें लड़ पड़ें। मैं इनकी भलाई चाहता हूँ। मैं पहले से ही दोनों को संधि कर लेने का उपदेश देता आया हूँ। जहां तक मैं देखता हूँ युधिष्ठिर अन्तःकरण से सन्धि चाहता है। उसनेअभी कोई ऐसा कार्य नहीं किया है, जिससे इसके विरुद्ध भाव प्रगट हो, परन्तु जब

धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों के नेत्रों पर लोभ ने पट्टी बांध रक्खी है तो मैं नहीं समझता कि यह युद्ध कैसे रुकेगा।

धर्म और अधर्म का लक्षण तू भली भांति जानता है, फिर आश्चर्य है कि तू युधिष्ठिर जैसे क्षत्रिय को ताना देता है। युधिष्ठिर अपने धर्म पर स्थिर है, और उसे शास्त्रानुसार अपने कुल की भलाई का चिन्तन रहता है।

ज्ञान और कर्म विषयक जो तुमने उपदेश किया है, वह ऐसा विषय है कि उसके बारे में ब्राह्मणों की कभी एक सम्मति नहीं रही है। कुछ लोगों का यह है कि परलोक की सिद्धी शुभाशुभ कर्मों से ही होती है। और कुछ कहते हैं कि मुक्ति केवल ज्ञान से मिलती है, और कर्मों का नाश करना ही जरूरी है। ब्राह्मण जानते हैं कि यद्यपि हमको खाने के पदार्थों के ज्ञान ही पर भूख का नाश नहीं होता जब तक भोजन नहीं करेंगे। ज्ञानकांड की वह शाखा जो कर्म कांड में सहायता देती है; अधिक फलदायक है, क्योंकि कर्म का फल प्रत्यक्ष है। प्यासा पानी पीता है और पानी से उसकी प्यास बुझ जाती है, इस से स्पष्ट है कि केवल ज्ञान से कर्म की अधिक श्रेष्ठता है। सृष्टि में कर्म ही प्रधान दीख पड़ता है। वायु सूर्य्य, चंद्रमा अग्नि और पृथिवी सब कर्म करते हुए अपना २ धर्म पालन कर रहे हैं। सारे आप्त पुरुषों, विद्वान ब्राह्मण और क्षत्रियों की यही व्यवस्था है। फिर हे संजय! यह सब कुछ जान कर भी क्यों धृतराष्ट्र के पुत्रों का पक्ष लेकर बहकाने आया है। तू जानता है कि युधिष्ठिर वेद का ज्ञाता है। उसने राजसूय यज्ञ किया है, घोड़े और हाथी की सवारी करना और शस्त्र चलाना उसका काम है। अब तू ही बता कि ऐसी दशा में कौनसा उपाय है जिससे युधिष्ठिर धर्म से पतित न हो। परन्तु तुझे यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि युधिष्ठिर राजपुत्र है।

अब यही बता कि शास्त्र राजा के लिए क्या आज्ञा देते हैं। लड़ना वा न लड़ना, उसका क्या धर्म है ?

शास्त्र में जो क्षत्रियों के धर्म लिखे हैं उनका विचार करके तुझे अपनी सम्मति देनी चाहिये। क्या क्षत्रिय का यह धर्म नहीं कि वह विद्या का प्रचार करे, धर्म की रक्षा करे, अपनी प्रजा का पालन करे, ऐसे नियम बनावे और इस तरह प्रबन्ध करे जिसमें सब वर्णाश्रम अपने २ धर्म पर स्थिर रहें। क्या न्याय करना और अनीति वा अत्याचार को दण्ड देना उसका धर्म नहीं है ? यदि कोई पुरुष छल से वा अधर्म से दूसरों का धन अपहरण कर ले तो बताओ कि उसके साथ राजा क्या बर्ताव करे ? यदि ऐसी दशा में भी लड़ाई करना पाप है तो फिर ये शास्त्रादि किस लिये बनाए गए हैं। शास्त्र कहता है कि अधर्मी पापी और दस्युओं को शस्त्र से दण्ड देना क्षत्रिय का धर्म है और इसी से क्षत्रिय को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसलिये ऐसी अवस्था में लड़ाई करना कैसे पाप हो सकता है ? आपको विचारना चाहिये कि धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों ने क्या किया। उन्होंने अधर्म से पांडवों का धन छीन लिया। याद रखो कि छिप के चोरी करना वा सामने चोरी करना दोनों ही समान पाप है, फिर बताओ कि दुर्योधन और चोरमें क्या भेद रहा। इसके अतिरिक्त दुर्योधन तथा उसके दुष्ट साथी द्रौपदी को नग्न घसीट के दर्बार में लेगये और उसका अपमान किया। बड़े दुख की बात है कि उस समय दुर्योधन को किसी ने नहीं समझाया और न पूछा कि तुम क्या करते हो। संजय आप उस समय वहाँ उपस्थित थे ? उनको क्यों न मना किया कि अर्जुन को ताना न दे, उस समय तो सारी सभा कायरों की तरह चुप रही और अब प्रत्येक पुरुष युधिष्ठिर को उपदेश देने आता है कि वह लड़ाई न करे।

फिर भी मेरी यही इच्छा है, कि बिना लड़ाई के न्याय हो जाय। मैं आप तैयार हूँ कि कौरवों के पास जाऊं और उन्हें समझाऊं। यदि वह मेरे समझाने से पांडवों का हक दे दें तो मैं अपने आपको कृतार्थ समझूंगा।

—***—

द्वाविंशति अध्याय।

कृष्णचन्द्र दूत बनकर जाते हैं।

जब संजय बिदा होकर चला गया तो महाराज कृष्ण ने धृतराष्ट्र के पास जाने का विचार प्रगट किया। श्रीकृष्ण जब चलने पर तैयार हुये तो युधिष्ठिर बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने यह सोचा कि दुष्ट दुर्योधन कहीं कृष्ण को हानि न पहुँचाये। इस लिये उन्होंने कृष्ण को बहुत समझाया कि वह वहां न जावें वरन् यहां तक कहा कि बिना आपके मुझे चक्रवर्ती राज्य और स्वर्ग भी स्वीकार नहीं, परन्तु कृष्ण ने एक न मानी और बोले कि वहां मेरा जाना आवश्यक है। क्योंकि यदि मेरी इस काम में सफलता न हुई और दुर्योधन सन्धि की शर्तें न मानेगा तो पीछे से कोई हमपर यह दोषारोपण नहीं कर सकता कि हमने सन्धि न की। जब युधिष्ठिर ने देखा कि कृष्ण अपने संकल्प में दृढ़ है, तो उन्होंने उनको जाने की आज्ञा दी और अपनी ओर से पूरा अधिकार दिया कि जो शर्त आप स्वीकार कर आयेंगे वह मुझे स्वीकार होगी। कृष्ण ने प्रस्थान करने के पहले फिर राजधर्म पर युधिष्ठिर को उपदेश दिया जिसमें युधिष्ठिर सन्धि की आशा पर अपनी तैयारियों से असावधान न हो जाय और दुर्योधन को सुगमता से लड़ाई जीतने का अवसर मिले। उस उपदेश में कृष्ण ने युधिष्ठिर को बताया कि जन्म पर्यन्त ब्रह्मचारी रहना क्षत्रिय का धर्म नहीं। क्षत्रिय

के लिये भिक्षा मांगना महापाप है। रणक्षेत्र में प्राण विसर्जन करने से क्षत्रिय सीधा स्वर्ग को जाता है। क्षत्रिय के लिये कायर होना पाप है। मुझे तो विश्वास है कि दुर्योधन कभी सन्धि पर राजी न होगा। मैं दुर्योधन को भलीभांति जानता हूँ, देख! उसने तेरे और तेरे भाइयों के साथ क्या २ बर्ताव किया है। मैं प्रत्येक प्रकार से दुर्योधन और उसके सहायकों को समझाने का यत्न करूंगा, परन्तु आत्मा कहता है कि वह एक न मानेगा। लड़ाई अवश्य करनी पड़ेगी इस लिये हे राजन् तुझे चाहिये कि अच्छी तरह से लड़ाई की तैयारियां करता रह और अपने धर्म से विमुख न हो।

कृष्ण के इस कथन को सुनकर भीम और अर्जुन के चित्त में यह भय उत्पन्न हुआ कि कहीं कृष्ण अपने कठोर बचन से काम न बिगाड़ दें और सन्धि असंभव हो जाय इसलिये दोनों ने बड़ी नम्रता पूर्वक हाथ जोड़ कर कृष्ण से प्रार्थना की कि जहां तक हो सके आप दुर्योधन के साथ नम्रता से बर्ताव करें क्योंकि हम कदापि लड़ाई करना नहीं चाहते। यदि दुर्योधन कुछ थोड़े ग्राम भी हम को दे दें तो हम उसी पर संतोष करके दिन व्यतीत करेंगे। इस पर कृष्ण ने उत्तर दिया कि ऐसा जान पड़ता है कि तुम उससे डर गये हो। तुम्हारी इस कायरता पर मुझे बड़ा दुख होता है। भीम को कृष्ण का यह ताना तीर के समान चुभा परन्तु संभल कर विनय पूर्वक अपना यथार्थ आशय इस प्रकार प्रकट किया कि मैं किसी तरह भी दुर्योधन वा उसके योद्धाओं से भय नहीं खाता। मुझे यदि विचार है तो केवल इतना ही है कि इस आपस की लड़ाई में सारे भारत के सन्तान नष्ट न हो जावें। इस पर कृष्ण ने भीम से कहा कि मैं तुमको ताना नहीं देता। मैं तुमको याद दिलाता था कि युद्ध से डरना क्षत्रिय का धर्म नहीं। मैं नहीं चाहता कि

कायरता के कारण तुम अपने धर्म से विमुख हो जाओ। तुम धैर्य धरो। मनुष्य से जितने यत्न हो सकते हैं उतना यत्न मैं सन्धि कराने के लिये करूंगा। परन्तु तुम समझ रखो कि मनुष्य की सारी युक्तियां सदा कृतकार्य नहीं होतीं, समय २ पर ऐसा होता है कि मनुष्य भले के लिये काम करता है परन्तु उसका फल बुरा निकल पड़ता है।

इस लिये जहां मनुष्य का कर्तव्य है कि अपनी आकांक्षाओं के सिद्धि के हेतु समस्त युक्तियां जो उससे हो सकती हैं करें वहां उसका यह भी धर्म है कि केवल अपनी युक्तियों के ही ताव में न रहे वरन् जो कुछ करता है उसे ईश्वर के आधीन समझकर करे जिससे परमात्मा उसकी युक्तियों में सहायता दे। कृषिकार अपने क्षेत्र में हल चलाता है बीज बोता है, पानी से सींचता है परन्तु नफा उसके कर्म से बाहर है। यह धर्म परमेश्वर के आधीन है। इस लिये जो काम हम करें वह परमेश्वर के आधीन होकर करें और परमात्मा पर विश्वास रखें कि यदि उसकी इच्छा होगी तो वह हमारी मनोकामना को पूर्ण करेगा।

जब कृष्ण जी युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन से विदा होने के पश्चात् नकुल और सहदेव से मिलने आये। एक ने यह कहा कि जैसी आपकी इच्छा हो वैसा कीजियेगा, परन्तु युवक सहदेव ने हाथ जोड़ कर कहा कि मेरी आन्तरिक इच्छा तो यह है कि हमारे हाथ से दुर्योधन का नाश हो। आप ऐसी कार्रवाई करें जिससे युद्ध अटल रहे। सहदेव का यह कहना था कि सभा में चारों ओर से लड़ाई की ध्वनि गूंज उठी। सेतकी ने कहा कि हम दुर्योधन का सिर कुचल कर ही चैन लेंगे। इतने में द्रोपदी भी आगे बढ़ी और अपने केश हाथ में लेकर कहने लगी कि हे कृष्ण एक बार इधर देखो। मुझको दुर्योधन ने केश पकड़ कर सभा के बीच अपमानित किया था।

उस समय अर्जुन और भीम की वीरता कहाँ थी ? यह किसी ने विचार कि यह महाराज द्रुपद की पुत्री है। महाराज पाँडु की पतोहू, पांडवों की महाराणी और धृष्टद्युम्न की बहिन है, क्या आप नहीं जानते कि खूनी का खून क्षमा करना महापाप है। जो पुरुष दण्डनीय है उसका दण्ड क्षमा करना स्वयम् एक अपराध है। यदि पापियों की इस संसार में वृद्धि होती रही और उनको राजे महाराजे दण्ड देने से विमुख रहे तो इसका परिणाम बड़ा भयानक होगा ! हे कृष्ण ! क्या दुर्योधन पर दया करना उचित है ? मैं आप से विनय पूर्वक कहती हूँ कि यदि आपको मेरी मर्यादा का तनिक भी ध्यान है तो आप धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ नम्रता न दर्शाइये। उसे दण्ड देना ही धर्म है। भीम और अर्जुन ने यदि आज कायरता पर कमर कस ली है और चुप हो बैठे हैं तो मेरा भाई और पिता उनसे बदला लेने को तैयार है, इतना कह वह विलाप करने लगी। द्रौपदी की यह दशा देखकर सारी सेना उत्तेजित हो उठी। चारों ओर से तलवारें म्यान से बाहर निकल गईं। निदान कृष्णने द्रौपदी से कहा कि "हे महाराणी ! तू धैर्य धर यदि दुर्योधन ने मेरी बात न मानी तो वह पश्चाताप करेगा। उसकी रानियां विलाप करेंगी ! तेरे पति विजय पावेंगे और तुझे फिर राज सिंहासन पर बिठायेंगे" वह जानते थे कि दुर्योधन दुष्ट है, इसलिये निज रक्षा के लिये उन्होंने दो सहस्र सैनिक अपने साथ लिये और हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किया।

धृतराष्ट्र को जब समाचार मिला कि कृष्ण जी आ रहे हैं तो उन्होंने उनके आराम का पूरा प्रबन्ध कर दिया और अपने शहर में स्वागत की बड़ी तैयारियां कराने लगे परन्तु कृष्ण जी ने धृतराष्ट्र के प्रबन्ध से कुछ लाभ न हुआ और वे हस्तिनापुर पहुँच गये। यहां कौरवों की ओर से उनका अच्छा स्वागत

किया गया जब महल में गये तो सब छोटे बड़ों ने उनका पूरा सत्कार किया।

—***—

त्रयोविंशति अध्याय।

युद्ध के पूर्व कृष्ण जी का सन्धि कराने के हेतु हस्तिनापुर जाना है।

कृष्ण जी।धृतराष्ट्र भीष्म और द्रोणादि से भेंट करने के बाद विदुर जी के यहां ठहरे। युधिष्ठिर की माता कुन्ती भी विदुर के साथ रहती थी। जब कृष्ण जी उसके घर में पहुंचे तो उसने बड़े प्रेम से कृष्ण को गले लगाया और आदर सत्कार से उसे पास बिठा कर रोने लगी। लेखनी में वह शक्ति नहीं है जो माता के प्रेम का वर्णन लिख सके, किस में यह बल है कि अपने पुत्रों के लिए माता के दुख को लेख द्वारा झलका सके, कृष्ण और कुन्ती के मिलाप का पूर्ण वर्णन अपने पाठकों के सामने उपस्थित करना हमारी लेखनी से बाहर है। याद रखना चाहिये कुन्ती ने अपने प्यारे पुत्रों का मुख नहीं देखा था। १४ वर्ष हुए कि जब युधिष्ठिर की कमजोरी से अपने राजपाट से अलग करके देश से अलग निकाल दिये गये थे। १४ वर्ष हुए कि जब उसने अपनी बिलखती हुई माता को महलों में छोड़ा था। १४ वर्ष से बेचारी माता अपने प्यारे बच्चों की बाट जोह रही थी और अपना मन मारे बैठी थी। कृष्ण के मिलने से माता की सारी आशायें लहलहा उठीं और साथ ही कृष्ण के आगमन ने मानों उसके घाव को ताजा बना दिया और उसकी (कृष्ण) मूर्ती में उसने अपने सारे प्यारे पुत्रों की मानों छाया देख ली। कुन्ती ने कृष्ण पर प्रश्नों की

बौछार आरम्भ कर दी। एक एक करके प्रश्न पूछती जाती थी और साथ ही साथ आंखों से अश्रुओं का प्रवाह जारी था। मुख से विलाप कर रही थी कभी अपने रंडापे पर रोती थी। कभी अपने पुत्रों की बाल्यावस्था को रो रो कर याद करने लगती थी। युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठा, भीम की वीरता और अर्जुन की धनुर्विद्या में कुशलता, सब इस समय उसके नेत्रों के सन्मुख घूम रहे थे। वह हैरान थी कि इस १४ वर्ष की क्या क्या बातें पूछे' सारांश यह कि अपने दुख की रामकहानी सुना रही थी। और दूसरे को बोलने का अवकाश नहीं देती थी। कृष्ण भी चित्रवत् खड़ा सुन रहा था। निदान कुन्ती ने अपना विलाप कुछ कम किया और फिर अपने पुत्रों का कुशल मंगल पूछने लगी कृष्ण के मुख से उनका हाल सुनकर उसके हृदय में फिर चोट सी लगी और रोने और विलाप करने लगी। जब राम कहानी सुना चुकी कृष्ण से कहने लगी कि "हे कृष्ण मेरी ओर से तो मेरे सब पुत्र मर गये और उनकी ओर से मैं मर चुकी, जाकर युधिष्ठिरको यह सन्देश दीजिये कि तेरा यश दिन बदिन बढ़े, तू सदा भलाई ही करता रहे, जिसमें तेरी धार्मिक मर्यादा की वृद्धि होती जाय। हे जनार्दन तू! उससे जाकर कहियो, कि धिक्कार है! उन लोगोंपर जो दूसरों के सहारे जीते हैं अथवा दूसरों से डरते हैं ऐसे जीने से मरना ही अच्छा है।

जा! अर्जुन और भीम से कह कि जिस दिन के लिये स्त्रियां पुत्र जनती हैं, वह दिन आन पहुँचा यदि इस समय तुम से कुछ न बन सका तो सारा संसार तुमको तुच्छ समझेगा। जिस दिन तुमने कोई निन्दनीय कार्य्य किया उसी दिन मुझ से तुम्हारा नाता टूट जायेगा। हे कृष्ण! जा माद्री के पुत्रों से भी कहना कि यथार्थ सुख वह है, जो निज बाहु बल से उपार्जन किया जाये। क्योंकि क्षत्रिय पुत्र के लिये कोई वस्तु

सुखदायक नहीं हो सकती जो उसने अपने बाहुबल से प्राप्त नहीं की है। अर्जुन से मेरा अन्तिम सन्देश यह कहना कि उसे वही करना धर्म है जो द्रौपदी कहे। द्रौपदी का नाम लेते ही कुन्ती के नेत्रों से फिर आंसू निकल पड़े। और उसके सारे अपमान का दृश्य उसके सामने घूमने लगा। इसके बाद कृष्ण माद्री को सम्बोधन करने लगे। बिचारे अभागे बेटों का नमस्कार माता के पवित्र चरणों पर रक्खा। उनके प्रेम पूर्ण सन्देश को माता को सुनाया। पुत्रों के धर्म भाव, उनकी वीरता उनकी सत्यता,उनके दृढ़ता की अनेक कहानियां सुनाईं। धर्म, ज्ञान और फिलासफी के उपदेशों से उनके संतप्त हृदय को ठंडा किया। सारांश यह कि कृष्ण ने अपनी वाणी व चातुर्य से उसके दुख को दूर किया और उसकी आन्तरिक बुझी हुई आशायें पुनः लहलहा उठीं। वीर राजपूतनी का सारा क्रोध कृष्ण की चापलूसी के आगे मोम की तरह पिघल गया। वह अन्त में कहने लगी कि हे कृष्ण! अच्छा जो तुझे हितकर मालूम हो वही कर। मुझे तेरी बुद्धिमता और चातुर्य पर पूर्ण विश्वास है। तू वही करेगा जिसमें मेरा और मेरे पुत्रों का लाभ होगा।

उपरोक्त बातें होने के पश्चात् कुन्ती से आज्ञा लेकर कृष्णचन्द्र दुर्योधन के महल में गये। दुर्योधन और उसके सभासदों ने इनका बड़ा आदर सत्कार किया। फिर कृष्ण से भोजन करने के लिये प्रार्थना की परन्तु जब कृष्ण ने अस्वीकार किया, तो दुर्योधन ने पूछा कि महाराज! आप मेरा अन्न जल क्यों नहीं ग्रहण करते। मैंने अनेक प्रकार से आपकी सेवा करना चाहा और अच्छे २ भोजन तैयार कराये परन्तु आप स्वीकार नहीं करते। आप मेरे प्यारे सम्बन्धी और दोनों पक्ष वालों के मित्र हैं, इसलिये, आपके लिये दोनों पक्ष समान हैं। कृष्ण ने

उत्तर में कहा कि हे दुर्योधन दूतों के लिये यही आज्ञा है कि जब तक उनका कार्य सफल न हो तब तक दर्बार की पूजा स्वीकार न करें। इस लिये जब तक मैं अपने कार्य में सफल न होऊंगा तब तक आप के महल में अन्न जल ग्रहण नहीं कर सकता। हाँ, सफलता होने पर मैं हर तरह से प्रस्तुत हूँ। इस पर दुर्योधन ने कहा कि महाराज ! आप को उचित नहीं कि हमारे साथ ऐसा बर्ताव करें। हम आपकी पूजा इस लिये करते हैं कि आप हमारे सम्बन्धी हैं। आपका कार्य हो वा न ह हमारा अन्न स्वीकार कीजिये, जिसमें हमारे हृदय में जो सेवा के भाव हैं वे उसी प्रकार बने रहें। आप से हमें कोई विरोध नहीं फिर आप क्यों हमारी सेवा स्वीकार नहीं करते। कृष्ण ने उत्तर दिया कि मेरा यह सिद्धान्त नहीं कि किसी को प्रसन्न रखने के अभिप्राय से वा क्रोध से अथवा किसी लाभ के हेतु मैं धर्म मार्ग छोड़ दूं। मनुष्य किसी के घर तभी भोजन कर सकता है जब उसके हृदय में खिलानेवाले का प्रेम हो अथ वा उस पर कोई संकट हो। अगर सच पूछो तो मेरे हृदय में न तो तेरे लिये तनिक भी प्रेम है और न मुझ पर संकट का ही समय है।

—***—

चतुर्विंशति अध्याय।

विदुर और कृष्ण की बातचीत।

इतिहास लेखक लिखता है कि रात का भोजन करने के पश्चात् जब विदुर और कृष्ण इकट्ठे हुए तो विदुर ने कृष्ण से कहा कि हे कृष्ण ! तू व्यर्थ ही यहां आता है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि तेरे उपदेश से कुछ लाभ न होगा। दुर्योधन ने एक वृहद् सेना एकत्रित कर ली है। जो क्षत्रिय तेरे शत्रु हैं, वे सब उसके

सहायक हो रहे हैं। उसे अपने सैन्यबल पर इतना घमण्ड है कि वह अभी से अपने को विजयी समझने लगा है। धन और राजपाट के लोभ ने दुर्योधन की आँखों पर पट्टी बाँध रक्खी है। उसके सभासद् भी उसीके समान कामी और क्रोधी इकट्ठे हो गये हैं। मुझे दुःख है कि तू ने वृथा इन दुष्टों के पास आने का कष्ट उठाया। पाण्डवों का सहायक समझ कर वे सब तेरे रक्त के प्यासे हो रहे हैं। मुझे भय है कि वे तुझे कुछ हानि न पहुँचायें। इस लिये मेरी सम्मति है कि तू इस विचार को छोड़ दे और इनकी सभा में न जा, क्योंकि मुझे तेरे कार्य की सफलता की कुछ भी आशा नहीं। जिस सभा में भली या बुरी बातों का अन्तर न बिचारा जाए वहां बात चीत न करनी चाहिये। जिस प्रकार चाण्डालों के सामने ब्राह्मणों के बचन का सत्कार नहीं होता उसी तरह दुर्योधन की सभा में तेरे कथन या आशय का सम्मान नहीं होगा। एवं ऐसे व्यर्थ काम से दूर रहना ही अच्छा है।

इसके उत्तर में कृष्ण जी बोले कि हे बिदुर जी! मैं आपके इस उपदेश के लिये आपका बहुत ही अनुगृहीत हूँ। धर्मात्मा और भद्रपुरुष ऐसी सलाह दिया ही करते हैं। परन्तु मुझे खेद है कि मैं दृढसंकल्प करके आया हूँ कि कम से कम एक बार अवश्य इस बात का यत्न करूं कि ये लोग वृथा सृष्टी के प्राण नष्ट न करावें।

इस समय मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, कि देश को और विशेषतः क्षत्रियवंश को इस बरबादी से बचाने के लिये एक बार कोशिश करूं। यदि इसमें मैं सफलीभूत हुआ तो मैं समझूंगा कि मैंने महान् धर्म का काम किया। नहीं तो कम से कम मुझे इतना हार्दिक सन्तोष तो अवश्य रहेगा कि मैंने अपनी ओर से यत्न करने में कुछ भी कमी नहीं की। प्रत्येक सच्चे

मित्र का धर्म है कि अपने मित्र को बुरे काम से बचाये। कौरव और पांडव मेरे सम्बन्धी हैं, दोनों के साथ मुझे प्रेम है। इस समय मैं देखता हूँ कि दोनों दल एक दूसरे को मारने के लिये तत्पर हैं। इसलिये मेरा धर्म है कि इस उत्पात को मिटाने का यत्न करूं। चाहे कोई माने या न माने। सारांश यह है कि बहुत देर तक विदुर और कृष्ण में इस तरह की बात होती रहीं और श्रीकृष्ण अपने सङ्कल्प में दृढ़ रहें।

धृतराष्ट्र की सभा में कृष्ण का दूतत्व।

दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीकृष्ण ने अपने नित्यकर्म से छुट्टी भी नहीं पाई थी कि दुर्योधन उन्हें अपने दर्बार में ले चलने को आन पहुंचा। श्रीकृष्ण सन्ध्या और अग्निहोत्रादि से छुट्टी पा कर उसके साथ हो लिये, और दर्बार में पहुँचे। जहां धृतराष्ट्र, भीष्म और द्रोणादि ने खड़े होकर इनका स्वागत किया। कुछ इधर उधर की बात चीत होने के उपरान्त कृष्णचन्द्र धृतराष्ट्र से यों कहने लगे कि—

"हे राजन! आपका कुल सारे आर्यावर्त में शिरोमणि है, शास्त्र-मर्यादा में इस कुल ने बड़ी प्रतिष्ठा पाई है, आपका वंश ऐसा पवित्र है कि सदा दूसरों के दुःख में अपना दुःख समझता आया है और कभी धर्म का त्याग नहीं किया। दीनों पर दया और सदाचार में भी तुम्हारा कुल जगतविख्यात है। ऐसे कुल से कभी किसी निंदनीय कार्य की आशा नहीं की जा सकती, इसलिये यही उचित है कि पांडवों से और तुमसे मेल होजाये। मैं मेल कराने को आया हूँ यदि इधर से आप मेल करने पर राज़ी होगये और उधर मैंने कोशिश की तो मेल हो जाना कुछ असम्भव नहीं। दोनों का भला इसी में है कि आपस में मिलके निपट लें। आपस में मेल हो जाने से किसी की सामर्थ न होगी कि आपके कुल वालों पर नज़र डाल सके। पृथवी का राज

तुम्हारे आधीन हो जायगा। यदि यह लड़ाई छिड़ गई तो इन सारे जीवों की हत्या का भार तुम्हारे सिर पर रहेगा। यदि पांडव मारे गये तब भी तुम्हें दुख होगा यदि तुम्हारे पुत्र मरे तुम्हारा जीवन वृथा हो जायगा। हे राजन्! देख, देश के सारे राजे महाराजे लड़ाई पर कमर बांधे तैयार हैं। इस लड़ाई में सबकी बर्बादी है। इसमें न छोटा बचेगा न बड़ा, इसलिये हम पर दया करो और लड़ाई को बन्द करो, नहीं तो लहू की नदी बह निकलेगी और सारे भारतवासी इसमें प्रायः नष्ट हो जायेंगे।

हे नृप! अपनी प्रजा को इस आपत्ति से बचाओ। पांडव भी तुम्हारे अंश हैं। जब उनका पिता परलोक सिधारा तो वे बालक थे। तुमने उनका पालनपोषण किया और निज संतान के समान शिक्षा दी, अतएव उन्हें निज सन्तान समझ कर उन पर दया करो और इस लड़ाई को बन्द करो।

बेचारा युधिष्ठिर तो धर्म के हेतु प्राण देने को भी तय्यार है। इस समय तक वह तुम्हारी आज्ञा पालन करता आया है। तुम्हारे पुत्रों ने उनसे बराबर बुरा बर्ताव किया, परन्तु उन्हों ने कभी तुम्हारा या तुम्हारे पुत्रों का बुरा नहीं विचारा! देख, तुम्हारे पुत्रों ने द्रौपदी का कैसा अपमान किया। उसके केश पकड़ कर उसे सभा में घसीट लाये परन्तु तब भी पांडवों ने सहन किया और बखेड़ा नहीं बढ़ाया, इसलिये कल्याण इसी में है कि युधिष्ठिर को उसका हक़ देकर इस बखेड़े को शान्त कर। मैं दोनों का शुभचिन्तक हूँ, इसलिये धर्म के नाम पर, दोनों के कल्याण के नाम पर आपसे अपील करता हूँ कि आप सन्धि कर लें, नहीं तो इसका अन्त बड़ा भयानक होगा, और उसके उत्तरदाता आप होंगे।

राजा धृतराष्ट्र ने उत्तर में कहा कि हे केशव! तुमने जो

कुछ कहा सत्य है। स्वर्गलोक जाने का यही मार्ग है। धर्मम-र्यादा वही है जो तुमने बतलाया परन्तु क्या तुम जानते नहीं कि मेरे पुत्र मेरे अधीन नहीं। दुर्योधन मेरी आज्ञानुसार काम नहीं करता। न वह अपनी माता गान्धारी का कहना मानता है। उस पर किसी के सदुपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिये हे कृष्ण! तू ही कृपा करके उसे समझा जिससे वह इस पाप कर्म से बचे।

इस पर कृष्ण ने दुर्योधन से कहा कि—

हे दुर्योधन! ऐसे उच्च वंश में तू ने जन्म पाया है। तुझे उचित है कि कोई ऐसा काम न करे जिससे तुझ पर वा तेरे पूर्वजों पर कलंक लगे। विद्या पाकर तुझे उचित नहीं है कि तू अनपढ़ लोगों के समान कार्य करे। इस समय तेरी इच्छा जिस ओर है वह अधर्म और पाप का मार्ग है। जो कार्य तूने करने के लिये विचारा है, उसको धर्मात्मा और भद्र पुरुष नहीं करते। देख तेरे इस कार्य्य से कितने जीव नष्ट होंगे। तुझे वही करना उचित है, जिसमें तेरी, तेरे सम्बन्धियों और मित्रों की भलाई हो एवं पांडुपुत्र बड़े धर्मात्मा और सदाचारी विद्वान् वीर हैं। तुम्हारे पिता पितामह, गुरु और दूसरे ज्येष्ठ पुरुषों की इच्छा है कि पांडुपुत्रों से सन्धि कर ली जाय। इसलिये हे मित्र! तेरा कल्याण मेल करने में ही है। ऐसे उच्च वंश में जन्म लेने के कारण तुझे क्रोध करना अनुचित है। जो पुरुष अपने मित्रों के सदुपदेश को नहीं सुनता उसका कभी भला नहीं होता और अन्त में उसे पश्चाताप करना पड़ता है। तुझे भी उचित है कि तू अपने पूज्य पिता की आज्ञा का उलंघन न करे, नहीं तो याद रख कि अन्त में दुख पावेगा। पांडवों से मित्रता रखने में भी हरएक प्रकार से कल्याण है। तूने उन्हें कितनी बार सताया पर उन्होंने मुझपर कभी हाथ नहीं उठाया, और कभी तुझ से

बदला लेने की इच्छा नहीं की। नहीं तो तू जानता है कि वीरता और धनुर्विद्या में अर्जुन का सामना करने वाला कोई नहीं। राजकुमार! तू अब अपने भाई बन्धु और इष्ट मित्रों पर दया कर। तुझे अपनी प्रजा पर भी दया करनी चाहिये नहीं तो सब युद्ध में नष्ट हो जायंगे और लोग यही कहेंगे कि दुर्योधन ने स्वयं अपने कुल का नाश कर दिया। पांडुपुत्र इस पर सहमत हैं कि धृतराष्ट्र महाराजाधिराज माना जाय और तुम्हें युवराज की पदवी दी जाय पर तुझे उनका आधा राजपाट उन्हें दे देना चाहिये। इस अवसर को अमूल्य समझ कर पांडु-पुत्रों से मेल करके सुख और सुयश को प्राप्त हो।"

भीष्म द्रोण और विदुर ने भी अनेक प्रकार से दुर्योधन को सन्धि कर लेने की सलाह दी पर दुर्योधन ने एक की न सुनी और बोला कि हे महाराज! मैंने आपके बचन सुन लिये। बिना सोचे बिचारे मुझसे इस प्रकार बात चीत करना उचित न था मैं नहीं समझता कि आप सब क्यों मुझे इस विषय में दोषी ठहराते हैं और पांडवों की सब बातों की प्रशंसा करते हैं। वास्तव में आप के सम्मुख, विदुरजी, पिताजी, गुरुजी, तथा दादाजी सब के सामने मैं ही दोषी हूँ पर मुझे अपने में कुछ दोष नहीं दिखाई देता। मैंने कोई अपराध नहीं किया। युधिष्ठिर ने अपनी इच्छानुसार चौसर खेला और दाव में अपना सारा राज पाट हार गए। फिर भी मैंने शकुनी से कह कर उनका सारा राजपाट लौटा दिया पर उन्होंने पुनः दाँव रखा और अंत में देश त्याग का प्रण किया। मैंने किसी प्रकार उनके साथ कुछ छल नहीं किया। उन्होंने हमारे पुराने शत्रुओं की सहायता की और उनकी सहायता से हमारे देश पर आक्रमण करने और हमको लूटने पर तैयार हुए हैं।

भय से तो मैं इन्द्र के सामने भी सर झुकाने को तयार

नहीं। मैं क्षत्री हूं, मुझे भय नहीं है। यदि युद्ध में मारा गया तो वीरगति पाऊँगा। क्षत्रियों का युद्ध क्षेत्र में लड़ते २ प्राण विसर्जन करना ही मुख्य कर्तव्य है। लड़ाई में शत्रु के सामने शिर नीचा किये बिना यदि हम वीरता से लड़ते जांय तो इससे अच्छा और क्या हो सकता है। मेरे बाल्यावस्था में मेरे पिता ने अन्याय से उन्हें आधा भाग दिया था। मैं किसी तरह से उसे स्वीकार नहीं कर सकता। जब तक दम में दम है तब तक मैं सुई की नोक को बराबर भूमि भी उन्हें नहीं दे सकता।

दुर्योधन की ये बातें सुन कर कृष्णचन्द्र ने विराट रूप धारण किया और क्रुद्ध होकर कहने लगे कि "हे दुर्योधन! क्या सचमुच तू बाणों की शया पर सोना चाहता है। अच्छा तेरी इच्छा पूर्ण हो और शीघ्र पूर्ण हो, हे मूर्ख! क्या तू समझता है कि मैंने पांडवों के साथ कोई अन्याय नहीं किया है। ये सारे राजे महाराजे जो यहां वर्तमान हैं यह कह सकते हैं, कि तेरा यह कथन सत्य है, तू ने पांडवों को हानि पहुँचाने और उनको मारने के लिये क्या कुछ नहीं किया? इस पर उन्हीं-ने दुर्योधन की एक एक करके सारी अनीतियां सुनाई और फिर कहने लगे कि हे पापी! तू नहीं चाहता कि पांडवों को उनका पैतृक भाग मिले, यद्यपि वे नम्रता से केवल अपना हिस्सा मांग रहे हैं। यह याद रख कि तुझे भाग देना पड़ेगा और तू फिर पश्चात्ताप करेगा। तुझे धृतराष्ट्र भीष्म विदुर द्रोण और मैंने भली प्रकार समझाया पर तुझपर किसीके समझाने का असर न हुआ। सत्य है, जब बुरे दिन आते हैं तो बुद्धि विपरीत हो जाती है और मनुष्य अभिमान से पूर्ण अपने इष्ट मित्रों के उपदेशोंको तुच्छ समझने लगता है।"

कृष्ण का यह कथन सुनकर सारे दर्बार में निस्तब्धता छा

गई अन्ततः दुःशासन बोला कि "हे दुर्योधन यदि तू आप संधि न करेगा तो राजाजी तेरे हाथ पैर बांध कर, हम लोगों को और कर्ण को पांडवों के हवाले कर देंगे, फिर तू क्या कर सकता है।"

यह सुनकर दुर्योधन पहिले तो बड़े सोच में पड़ गया, फिर सर्प की तरह फुंकारता हुआ उठकर दर्बार से चल दिया उसके साथ ही उसके भाई बन्धु और इष्ट मित्र भी चलते हुए। कृष्ण ने धृतराष्ट्र से कहा कि हे राजन्! अब तुझे भी उचित है कि तू अपने इस दुराचारी पुत्र को बन्दी कर ले। बुद्धिमानी तो इसी में है, कि कुल की भलाई के लिये एक पुरुष की परवाह न की जाय। यदि कुल के अनहित से देश वा जाति का हित हो तो कुल की परवाह न करनी चाहिये और आत्मा के उपकार के लिये संसार की परवाह नहीं की जाती। इसलिये हे राजन्! दुर्योधन को बन्दी करके पांडवों से सन्धि करले।

धृतराष्ट्र में इतनी सामर्थ कहां थी सो कृष्ण के इस बार्ता को स्वीकार करता तुरन्त उसने अपनी रानी गान्धारी को दुर्योधन को समझाने के लिये कहा।

गान्धारी ने पहिले तो राजा को बहुत कुछ धिकारा फिर कहने लगी कि इस सारे उपद्रवों के उत्तरदायि आप स्वयं हैं। आपही ने दुर्योधन को इतना सिर चढ़ा रक्खा था कि अब वह एक की भी नहीं सुनता। अन्त में दुर्योधन को बुलवाया और उसे इस प्रकार समझाने लगी कि हे पुत्र! तुझे अपने पिता पितामह गुरु और बड़ों की आज्ञापालन करना चाहिये यही तेरा परम धर्म है। मेरी भी यही उत्कट इच्छा है कि आपस में सन्धि हो जाय। एवं यदि तू हम सबकी इच्छा पूर्ण करेगा तो हम सब तुझ से बड़े प्रसन्न होंगे; अकेला कोई पुरुष भी राज्य नहीं कर सकता, विशेषतः वह पुरुष जिसकी इन्द्रियां

उसके वश में न हों कभी अधिक काल तक शासन नहीं कर सकता। शासन वही पुरुष कर सकता है जो अपने इन्द्रियों को अपने वशीभूत रखकर बुद्धिमानी से बर्ताव करे। कामी वा क्रोधी राज्य के उपयुक्त नहीं होता इसलिये पहले अपनी इन्द्रियों पर अधिकार पाना चाहिये। फिर संसार का राज्य मिल सकता है। मनुष्य पर शासन करना बड़ा कठिन है। संभव है कि कभी कोई दुष्टात्मा शक्तिमान् हो जाय, और उसे राज्य मिल जाय पर उससे उसका निर्वाह नहीं हो सकता। जो अपने को चक्रवर्ती बनाना चाहता है उसका प्रथम धर्म है कि अपनी इन्द्रियों को अपने आधीन करे क्योंकि इससे बुद्धि की वृद्धि होती है। स्वाधीन इन्द्रियाँ स्वाधीन घोड़ों के तुल्य हैं जो अपने सवार को कभी न कभी गिरा देता है और घायल करता है। जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को अपने आधीन किये बिना अपने मित्रों में श्रेष्ठता पाने का यत्न करता है उसका यत्न निष्फल होता है। अपने मित्रों में सम्मान पाए बिना जो अपने शत्रु पर विजय पाने की इच्छा रखता है उसकी इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती अतएव अपने इन्द्रियों पर प्रभुत्व पाना ही मनुष्यों का प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिये क्योंकि ऐसे ही पुरुष को सदा सुख मिलता है। काम और क्रोधको बुद्धिमानी से वश में करना चाहिये। जिस पुरुष ने समस्त सांसारिक इच्छाओं को छोड़ दिया है पर काम और क्रोध उसके शरीर में वर्त्तमान हैं वह स्वर्ग कभी नहीं जा सकता। वही क्षत्री चक्रवर्ती राज्य पा सकता है। जिसने काम, क्रोध, और अभिमान को जीत लिया है।

इसी प्रकार उपदेश करते हुए गांधारी ने दुर्योधन को सर्व प्रकारसे ऊंचा नीचा दिखाया। कभी उसको अर्जुन और कृष्ण जी वीरता का भय देती थी और कभी भीष्म धृतराष्ट्र और

द्रोणादि के अप्रसन्न हो जाने का भय दिखाती थी पर उसने कुछ न मानी। और अन्त में उठ खड़ा हुआ और दरबार से चलता हुआ।

—:***:—

पञ्चविंशति अध्याय।

कृष्ण के दूत्व का अन्त।

दर्बार से बाहर जाकर दुर्योधन ने अपने भाई बंधुओं से सलाह कर कृष्ण को बन्दी करने के लिये निश्चित किया परन्तु वह बात पूरी भी होने न पाई थी कि इसकी सूचना कृष्ण के एक भृत्य सात्यकि को मिल गई और उसने पहले तो अपनी सेना को तैयार होने की आज्ञा भेज दी और फिर कृष्ण को इस बात की खबर सुना दी और उनकी आज्ञा से धृतराष्ट्र को जा सूचित किया। सारा दरबार यह बात सुन के दंग रह गया क्योंकि प्राचीन काल में दूत को बन्दी करना घोर पाप समझा जाता था। इसीलिये किसी को इसका विचार भी न था कि दुर्योधन ऐसी नीचता पर कमर बांध लेगा। धृतराष्ट्र लज्जा और क्रोध से कांपने लगे और दुर्योधन को बुला कर बहुत धिक्कारा। कृष्ण दरबार से विदा होकर कुन्ती के पास आए और उसको सारा वृत्तान्त कह सुनाया और फिर पूछने लगे कि अब क्या करना उचित है। कुन्ती ने कृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर को यह कहला भेजा कि हे पुत्र! तेरा यश दिन दिन घट रहा है। क्योंकि तू अहंकार में फंसा हुआ उस पुरुष के समान है जो समझे बूझे बिना वेदों के शब्दों को रट लेता है और इस लिये विद्वान् नहीं कहलाता। तू बिलकुल भूल गया है कि पर-मात्माने उस वर्ण के लिये किस धर्म का उपदेश किया है जिसमें तूने जन्म लिया है। क्षत्रियों का धर्म केवल आप ने बाहुबल पर

उसके वश में न हों कभी अधिक काल तक शासन नहीं कर सकता। शासन वही पुरुष कर सकता है जो अपने इन्द्रियों को अपने वशीभूत रखकर बुद्धिमानी से बर्ताव करे। कामी वा क्रोधी राज्य के उपयुक्त नहीं होता इसलिये पहले अपनी इन्द्रियों पर अधिकार पाना चाहिये। फिर संसार का राज्य मिल सकता है। मनुष्य पर शासन करना बड़ा कठिन है। संभव है कि कभी कोई दुष्टात्मा शक्तिमान् हो जाय, और उसे राज्य मिल जाय पर उससे उसका निर्वाह नहीं हो सकता। जो अपने को चक्रवर्ती बनाना चाहता है उसका प्रथम धर्म है कि अपनी इन्द्रियों को अपने आधीन करे क्योंकि इससे बुद्धि की वृद्धि होती है। स्वाधीन इन्द्रियाँ स्वाधीन घोड़ों के तुल्य हैं जो अपने सवार को कभी न कभी गिरा देता है और घायल करता है। जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को अपने आधीन किये बिना अपने मित्रों में श्रेष्ठता पाने का यत्न करता है उसका यत्न निष्फल होता है। अपने मित्रों में सम्मान पाए बिना जो अपने शत्रु पर विजय पाने की इच्छा रखता है उसकी इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती अतएव अपने इन्द्रियों पर प्रभुत्व पाना ही मनुष्यों का प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिये क्योंकि ऐसे ही पुरुष को सदा सुख मिलता है। काम और क्रोधको बुद्धिमानी से वश में करना चाहिये। जिस पुरुष ने समस्त सांसारिक इच्छाओं को छोड़ दिया है पर काम और क्रोध उसके शरीर में वर्त्तमान हैं वह स्वर्ग कभी नहीं जा सकता। वही क्षत्री चक्रवर्ती राज्य पा सकता है। जिसने काम, क्रोध, और अभिमान को जीत लिया है।

इसी प्रकार उपदेश करते हुए गांधारी ने दुर्योधन को सर्व प्रकारसे ऊंचा नीचा दिखाया। कभी उसको अर्जुन और कृष्ण जी वीरता का भय देती थी और कभी भीष्म धृतराष्ट्र और

द्रोणादि के अप्रसन्न हो जाने का भय दिखाती थी पर उसने कुछ न मानी। और अन्त में उठ खड़ा हुआ और दरबार से चलता हुआ।

—:***:—

पञ्चविंशति अध्याय।

कृष्ण के दूत्व का अन्त।

दर्बार से बाहर जाकर दुर्योधन ने अपने भाई बंधुओं से सलाह कर कृष्ण को बन्दी करने के लिये निश्चित किया परन्तु वह बात पूरी भी होने न पाई थी कि इसकी सूचना कृष्ण के एक भृत्य सात्यकि को मिल गई और उसने पहले तो अपनी सेना को तैयार होने की आज्ञा भेज दी और फिर कृष्ण को इस बात की खबर सुना दी और उनकी आज्ञा से धृतराष्ट्र को जा सूचित किया। सारा दरबार यह बात सुन के दंग रह गया क्योंकि प्राचीन काल में दूत को बन्दी करना घोर पाप समझा जाता था। इसीलिये किसी को इसका विचार भी न था कि दुर्योधन ऐसी नीचता पर कमर बांध लेगा। धृतराष्ट्र लज्जा और क्रोध से कांपने लगे और दुर्योधन को बुला कर बहुत धिक्कारा। कृष्ण दरबार से विदा होकर कुन्ती के पास आए और उसको सारा वृत्तान्त कह सुनाया और फिर पूछने लगे कि अब क्या करना उचित है। कुन्ती ने कृष्ण के द्वारा युधिष्ठिर को यह कहला भेजा कि हे पुत्र! तेरा यश दिन दिन घट रहा है। क्योंकि तू अहंकार में फंसा हुआ उस पुरुष के समान है जो समझे बूझे बिना वेदों के शब्दों को रट लेता है और इस लिये विद्वान् नहीं कहलाता। तू बिल्कुल भूल गया है कि परमात्माने उस वर्ण के लिये किस धर्म का उपदेश किया है जिसमें तूने जन्म लिया है। क्षत्रियों का धर्म केवल आप ने बाहुबल पर

भरोसा रखते हुए प्रजा की रक्षा करना है। सुरक्षित प्रजा के पुण्य कर्मों के फलका छटा भाग राजा के हिस्से में गणना की है। राजा को अपना धर्म पालन करने से देवता का पद मिलता है। पाप से वह नर्कगामी होता है। राजा का धर्मानुसार चारों वर्णों में न्याय करना तथा प्रत्येक अपराधी को दण्ड देना पहला कर्तव्य है। इससे उसको मोक्ष मिलता है।

जिस काल में राजा प्रजा से नियम का अच्छी तरह पालन कराता है उस समय को कृतयुग कहते हैं। ऐसे राजा को महान् सुख मिलता है। याद रखना चाहिये कि समय राजा के आधीन होता है। राजा समय के आधीन नहीं होता। जिस राजा के समय में त्रेता युग हुआ उसको भी स्वर्ग की प्राप्ति होती है। पर वह स्वर्ग को बहुत अच्छी तरह नहीं भोग सकता। इसी तरह द्वापर युग का राजा इससे भी कम, और कलियुग में होने वाला राजा तो पाप में डूबा हुआ दुख भोगता है। और बहुत काल के लिये नर्कगामी होता है। सत्य तो यों है कि राजा के पापों का उसकी प्रजा पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है, और ऐसा ही प्रजा के पापों का फल राजा को भी भोगना पड़ता है।

इसलिये हे राजपुत्र! तुझको उचित है कि तू अपनी मर्यादानुसार व्यवहार कर। जो आचरण तूने ग्रहण किया है वह राजर्षियों के योग्य नहीं है। अनुचित दया की गिनती निर्बलता में होती है। तेरे पिता या मैंने कभी तेरे लिये ऐसी बुद्धि की रक्षा नहीं की। मैं तो सदा तेरे लिये यज्ञ दान और पुरुषार्थ की परमेश्वर से प्रार्थना करती रही हूँ।

मैं सदा परमात्मा से यही प्रार्थना करती आई हूँ कि वह तेरे आत्मा को श्रेष्ठ बनावे और तुझे वीरता और पुरुषार्थ दे।

देवता जब प्रसन्न होते हैं तो आयु, धन और संतान की

वृद्धि करते हैं। माता पिता की सदा यही इच्छा होती है कि उनको सन्तान विद्वान दानी और प्रजापालक हो। इसलिये तेरा कर्तव्य है कि जिस वर्ण में तेरा जन्म हुआ है उसके धर्म का पालन करे। हे युधिष्ठिर! दान लेना ब्राह्मण का काम है तेरा काम नहीं। तू क्षत्री है तेरा धर्म यह है कि तू अपने बाहु-बल से विपत्ति काल में दूसरों की सहायता करे। इसलिये अब बिलम्ब क्यों करता है क्यों अपने बाहुबल से अपना राजपाट नहीं लौटा लेता। कैसे दुख की बात है कि तुझे जन्म देकर भी मैं दूसरों का दिया हुआ अन्न खाऊं। युधिष्ठिर! तू क्यों अपने पूर्वजों के यश और कीर्ति में धब्बा लगाता है। उठ! वीरों की तरह युद्ध कर और धर्म मर्यादा को छोड़ कर भाइयों सहित पाप का भागी न बन। इसी तरह के सन्देश कुन्ती ने भीम और और अर्जुन के लिये भी दिये और कृष्ण को प्यार से विदा किया।

षटविंशति अध्याय।

कृष्णचन्द्र कर्ण को लड़ाई में न जाने के लिये समझाना।

जब कृष्ण अपने कार्य में असफल हुये तो उन्होंने चलते चलते एक और युक्ति लगाई अर्थात् जिसमें कर्ण, और दुर्योधन में विरोध हो जाय और कर्ण उसका पक्ष छोड़ के पांडवों का साथ दे।

कर्ण के विषय में कहा जाता है कि पांडवों का सौतेला भाई है पर वह विवाह से पहले उत्पन्न हुआ था इसलिये कुन्ती ने भी उसे अपना पुत्र स्वीकार नहीं किया था। पाठकों को याद होगा कि पांडवों की बाल्यावस्था में जब उनकी परीक्षा

ली गई थी तो कर्ण को अर्जुन का प्रतिवादी बनने की आज्ञा नहीं दी गई थी क्योंकि वह अज्ञातपुत्र था। उसी दिन से उसने प्रण किया था कि किसी तरह अर्जुन को परास्त करके इस अपमान का बदला लूंगा। इसी अभिप्राय से उसने दुर्योधन से मित्रता कर उसको अपना सहायक बना लिया। दुर्योधन की सेना में कर्ण और भीष्म अर्जुन के बराबर के योद्धा गिने जाते थे। दुर्योधन को विश्वास था कि इन दोनों के सामने अकेले अर्जुन की कुछ न चलेगी। इससे उसको इतना अभिमान था कि वह इस सन्धि को अस्वीकार करता था। कृष्णचन्द्र यद्यपि अन्तःकरण से चाहते थे, कि लड़ाई न हो पर पांडवों को उनका स्वत्व न मिले और सन्धि हो जाय इस बात को पसन्द नहीं करते थे। वह इसे पाप समझते थे। इसलिये हस्तिनापुर से प्रस्थान करने के पूर्व उन्होंने यह युक्ति लगाई कि कर्ण को उसके जन्म का यथार्थ परिचय देकर दुर्योधन की सहायता करने से रोकें। कृष्ण ने कर्ण को बहुत तरह समझाया और पांडवों की ओर से यहां तक कहा कि आप वयास में सबसे बड़े होने के कारण गद्दी के अधिकारी हैं पर इस पर भी कर्ण ने दुर्योधन का साथ छोड़ना अस्वीकार किया और अन्त में यह उत्तर दिया कि मैं दुर्योधन से उसका साथ देने को दृढ़ संकल्प कर चुका हूँ। अब यदि चक्रवर्ती राज्य भी मिले तो उसका साथ नहीं छोड़ सकता। मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है कि या तो अर्जुन को युद्ध क्षेत्र में नीचा दिखा कर यश और कीर्त्ति पाऊंगा या उसके हाथ से मारा जा कर स्वर्ग प्राप्त करूंगा। कृष्णचन्द्र की चतुरता का यह अन्तिम प्रयत्न विफल गया। अब इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय बाकी न रहा कि अपनी २ सेना तैयार की जाय। जब कृष्ण हस्तिनापुर से लौट आये तो युधिष्ठिर ने अपनी सेना के साथ प्रस्थान किया और

कुरुक्षेत्र के मैदान में आ जमे और युद्ध की तैयारियां होने लगीं।

सप्तविंशति अध्याय।

महाभारत का युद्ध।

भारत सन्तान के इन दोनों वंशों में संधि कराने की कोई युक्ति बाकी न रही। साम दाम प्रत्येक नीति काम में लाई गई। पर किसी प्रकार भी अन्त अच्छा न निकला तब अपने बाहुबल से अपना २ न्याय करना स्थिर किया गया। सत्य कहा है कि विनाश काले विपरीत बुद्धीः। भले और बुरे का ज्ञान नहीं रहता, बुद्धि पर मानों परदा पड़ जाता है और ऐसे ही समय पर कहा जाता है कि भाग्य बड़ा प्रबल है। कर्मों की गति के सामने मानुषी युक्ति वृथा हो जाती हैं। महाभारत की लड़ाई क्या थी? आर्य्य जाति के बुरे कर्मों का दण्ड था। राजा और प्रजा के एकत्रित पाप मनुष्य रूप धारण करके कुरुक्षेत्र में इसलिये इकट्ठे हुए थे कि आर्य्यावर्त्त की विद्या, कला और कौशल में जो कुछ अच्छा हो उसे मिट्टी में मिला दिया जाय। ऐसा जान पड़ता था मानों अब आर्य जाति की समाप्ति काल आ पहुँची क्योंकि वह बात अविश्वसनीय था कि भीष्म युधिष्ठिर अर्जुन और द्रोण युद्धक्षेत्र में खड़े होकर परस्पर में युद्ध करने के लिये तत्पर होंगे। गुरु और शिष्य अपने २ पद और नियम का विचार रखकर भी प्राचीन आर्यावर्त की श्रेष्ठता की अन्तिम झलक दिखाकर मानों उसे वहीं सफल करने के लिए एकत्रित होंगे। यह कौन जानता था कि महाराज शान्तनु के बाद तीसरी पीढ़ी में उसके वंश वाले योंही युवावस्था की उमंग में आत्म बल के परीक्षार्थ सारे आर्यावर्त को मिट्टी में मिला देंगे और अपने हाथ से अपनी जाति का उन्नति

के शिखर से अवनति के गढे में ढकेल देंगे! इस परस्पर की लड़ाई ने भारत को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। महाभारत की लड़ाई में जिस ढंग से दोनों सेनायें सुसज्जित की गईं तथा जिन सैनिकों ने जो वीर भाव दिखलाए, जिस ढंग से सेना खड़ी की गई, और उनसे धावा कराया गया, इत्यादि २ वृत्तान्त पढ़कर एक दीर्घ निश्वास लेना पड़ता है। वह हमें आठ आठ आँसू रुलाने के लिए पर्य्याप्त हैं। क्या संसार में कोई ऐसी जाति बताई जा सकती है जिसके कवि ने अपने कवित्व के लिये शास्त्रों के नाम गढ़ लिए हों अथवा अनेक प्रकार के धावों के लिये कल्पित नाम बना लिये हों और लड़ाई का वर्णन सविस्तर लिखा हो, मानों वह केवल कवि ही नहीं वरन समर विद्या का पूर्ण पण्डित हो।

मनुष्य का दैहिक बल सेना की गणना अथवा ऐसी ही और बातों में चाहे कितनी ही कल्पना शक्ति क्यों न व्यय की जाय पर संसार में न कोई ऐसा "होमर" जन्मा और न वर्जिल जिसने समरविद्या से अनभिज्ञ वा एक कायर जाति के लिये इलियर्ड वा औडिसे लिख डाली हो। होमर और वर्जिल की कविता से यूनानियों और रोमियों की वीरता और मिलिटरी सायँस का भली भांति परिचय मिलता है। वैसे ही आर्य जाति की युद्ध विद्या में जो निपुणता थी वह महाभारत से अच्छी तरह प्रगट होती है। कविकृतित्व के लिये जो रिआयत रखना हो वह रख लो, तब भी जो कुछ शेष बच जाता है वह नेत्रों के सामने एक विचित्र समा खड़ा कर देता है यह सच है कि उन वीर आर्यों के उत्तराधिकारी अब उस भाषा का भी पूरा ज्ञान नहीं रखते जिसमें ये घटनायें वर्णित हैं। इनके लिये इस युद्ध का वर्णन ऐसा है जैसे आङ्गल भाषा से एक अनभिज्ञ पुरुष के लिये मिलटन का पेरेडाइज़ लास्ट।

अभिप्राय यह है कि दोनों ओर से युद्ध ठन गया। दोनों ओर से सेना सुसज्जित कर सामने की गई। सेनाओं को स्थान स्थान पर विभक्त कर अफसर नियत कर दिये गए। एक ओर से सेना का आधिपत्य भीष्मपितामह को दिया गया और दूसरी ओर से धृष्टद्युम्न को। शंख घड़ियाल आदि बाजों की ध्वनि से आकाश पाताल गूंज उठा। घोड़ों की टाप से मानों पृथिवी कम्पायमान हो गई। अफसरों की प्रभावशाली वक्तृता से सैनिकों का मानों रक्त उबल रहा था इस मैदान में जो कुछ था वह प्रोत्साहित हो रहा था। भाई भाई से, दादा पोते से, गुरु शिष्य से लड़ने के लिये तत्पर थे।

सारे स्नेह को छोड़ कर बात २ में भाई भाई के रक्त का प्यासा दीख पड़ने लगा। अहो! क्या ही दृश्य था। आर्यावर्त जैसे महान् देश की सारी लड़ाकी जातियां अपने अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित होकर लड़ने के लिये तैयार थीं।

सत्य है किसी देशकी समृद्धि को देखना हो तो वहां की सेना को देख लो। क्योंकि अपने शत्रु के सामने आने के लिये प्रत्येक जाति अपनी पूरी शक्ति को प्रगट करने का यत्न करती है।

महाभारत के युद्धारम्भ के आरम्भ के पूर्व कुरुक्षेत्र का मैदान एक प्रदर्शिनी के सदृश था जिसमें भारतवर्ष का पूरा वैभव दृष्टिगोचर होता था। परदे विचित्र थे। बाजे गाने विचित्र थे और साथ ही एक्टर भी अपने २ गुण में पंडित थे। जो फिर इसके बाद आर्य्यावर्त के स्टेज पर नहीं आये। इस स्टेज से अर्जुन ने कृष्ण को आज्ञा दी कि मेरा रथ दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा करो जिसमें दोनों दल को मैं अच्छी तरह एक दृष्टि देख लूं। कृष्णने तत्काल आज्ञा का पालन किया और अर्जुन कृष्ण दोनों सेनाओं के बीच आ खड़े हुये।

ज्योंहीं अर्जुन की दृष्टि कुरुसेना पर पड़ी और भीष्म और द्रोण को देखा तो उनका हृदय विचलित हो गया। इस समय वैराग्य के भाव उनके हृदय में उठने लगे। यहाँ तक कि अर्जुन ने विवश होकर कहा कि सांसारिक सुख वा राजपाट के लिये मुझे भीष्म और द्रोण जैसे सत्पुरुष और धृतराष्ट्र के पुत्रों का बध करना स्वीकार नहीं। युद्ध नहीं करूंगा। कृष्ण उनकी यह बात सुन अचम्भित रह गये।

उसने सबसे पहिले अर्जुन को क्षत्रिय धर्म बतलाया और तिरस्कार से काम निकालना चाहा। उसने दोनों सेनाओं की ओर संकेत करके पूछा, कि हे अर्जुन आर्यों में तो ऐसी कायरता नहीं होती, जैसी इस समय तू दिखा रहा है। देख दोनों दल वाले लड़ने के लिये कमर बाँधे खड़े हैं। तू इस समय यदि इस मिथ्या वैराग्य में फंस कर मैदान छोड़कर भाग खड़ा होगा तो लोग क्या कहेंगे। तेरे शत्रु तेरी वीरता में सन्देह करके तेरी निन्दा करते फिरेंगे। क्षत्री का धर्म्म लड़ना है। क्षत्री युद्ध में मारे जाने से सीधे स्वर्ग जाता है। यदि तू सफल हुआ तो इस पृथ्वी का राज्य और सुख तेरे साथ रहेंगे। पर अर्जुन के हृदय पर ऐसी चोट लगी थी कि उस समझाने का कुछ भी असर उसपर न हुआ। निदान कृष्ण ने आत्मा के विषय का उपदेश किया और कहा कि न तो जन्म लेता है और न मरता है। न कोई इसे जन्म दे सकता है और न मार सकता है। फिर तेरा विचार कैसा मिथ्या है कि मैं भीष्म और द्रोण को मार कर सांसारिक सुख भोगने की इच्छा नहीं रखता।

न तुझ में यह शक्ति है, कि तू इनको मार सके और न उन में यह शक्ति है कि वह तुझे मार सकें। आत्मा पर न तो लोहे की मार है और न अग्नि की। मरने और मारने वाला तो यह शरीर है जो आत्मा का वस्त्र है। यह शरीर नाशवान् है। पर-

मात्मा ने जो धर्म जीवात्मा के लिये नियत किया है उसके पूरा करने के लिये उसके योग्यतानुसार उसे वह शरीर प्रदान किया जाता है। जीवात्मा का यह काम नहीं कि इस शरीर के रक्षार्थ अपना धर्म कर्म छोड़दे और ममता के भ्रम में पड़कर यथार्थ धर्म का परित्याग करे। जीवात्मा का यही धर्म है, कि शरीर से वही काम ले जिसके लिये यह दिया गया है। यह शरीर धर्म के अनुकूल कर्म करने के लिये दिया गया है न कि अपनी इच्छानुसार काम करने के लिये। जो लोग अपनी इच्छा को प्रधान मान कर काम करते हैं वह कर्म के फेर में फंसे रहकर यथार्थ धर्म से दूर रह दुख सुख के बन्धन में फंसे रहते हैं। परन्तु जो जीवात्मा अपनी इच्छा का परित्याग करके शरीर को निष्काम कर्म में लगाते हैं वे सचाई को पाकर शारीरिक प्रयोजन वा उसके बन्धनों से स्वतन्त्र हो जाते हैं और मोक्ष को प्राप्त होते हैं। अतएव तुझे उचित है कि क्षात्र धर्म का पालन करता हुआ ममता का विचार छोड़दे और अपने धर्म पर स्थिर रह क्योंकि ऐसा न करने से तू घोर पाप का भागी बनेगा और नर्क में गिरेगा।

नोटः—पाठक! यह कथन उस उपदेश का सार है जो कृष्ण ने कुरुक्षेत्र में अर्जुन को दिया था और जिसके प्रभाव में आकर अर्जुन फिर लड़ने पर कटिबद्ध हो गये थे। साधारणतः यह विचारा जाता है कि सारी गीता का उपदेश कृष्णने अर्जुन को युद्ध क्षेत्र में ही किया था। हमको इसके मानने में संदेह होता है। पर यदि यह सत्य है तब भी गीता का सार यही है जो हमने ऊपर कह दिया है। जब तक लड़ाई होती रही तब तक कृष्ण जी बराबर अर्जुन के साथ रहे और यद्यपि इन्हों ने स्वयं शस्त्र नहीं चलाया पर इसमें सन्देह नहीं कि कृष्ण की उपस्थिति से पांडवों को बड़ी सहायता मिलती रही। सारी

लड़ाई में वह पांडवों को सलाह देते रहे और स्थान २ पर इनकी सेना को भी प्रोत्साहित करते रहे। इस युद्ध को सविस्तार वर्णन करना इस पुस्तक के आशय के बाहर है। अतएव हम केवल उन घटनाओं का उल्लेख करेंगे जिनसे कृष्णचन्द्र का सम्बन्ध है वा जिससे कृष्ण के कैरेक्टर पर कुछ ज्योति पड़ती है।

—*o***—

अष्टाविंशति अध्याय।

भीष्म का पराजय होना।

जिस दिन प्रातःकाल लड़ाई का आरम्भ हुआ उसके पहिले दिन सायंकाल को युधिष्ठिर ने कवच और शस्त्रादि उतार कुरुसेना की ओर प्रस्थान किया उसके भाई तथा उसकी सेना आश्चर्य में थी कि महाराज यह क्या कर रहे हैं, शस्त्र रहित शत्रु की ओर क्यों जा रहे हैं, शत्रु दल भी चकित था कि युधिष्ठिर यह क्या कर रहा है। उसके भाई उसके पीछे दौड़े और उससे उसके इस विचित्र कार्य्य का कारण पूछने लगे इसके साथ कृष्ण जी भी थे, जब युधिष्ठिर ने अर्जुन की बातों का कुछ उत्तर न दिया तो कृष्ण उनके अर्जुनादि भाइयों को समझाने लगे कि लड़ाई से पहिले युधिष्ठिर अपने कुल के ज्येष्ठ और आचार्य्य के पास लड़ाई करने की आज्ञा लेने चला है, क्योंकि शास्त्र ऐसाही लिखते हैं, युधिष्ठिर जी अपने भाइयों को साथ लिये भीष्म जी के डेरे में पहुँचे और उनके चरणों पर सिर धर दिया और फिर लड़ाई की आज्ञा मांगी, भीष्मजी युधिष्ठिर की इस नीति पर बड़े प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिया कि "पुत्र! मैं प्रसन्न चित्त से तुम्हें लड़ाई करनेकी आज्ञा देता हूँ मेरी समझ में तू सत्य मार्ग पर है परमात्मा तेरी वृद्धि

करें" भीष्म की आशीष लेकर युधिष्ठिर अपने आचार्य्यके पास गया, और इसी तरह उनसे आज्ञा प्राप्त की फिर कृपाचार्य्य इत्यादि के पास से होता हुआ अपने डेरे को वापस आया।

इसके पश्चात् लड़ाई छिड़ गई दस दिन ताईं कुरुसेना लड़ती रही, कुरुसेना का सेनापति भीष्म अपने काल का विख्यात योद्धा था, पांडवों की सेना में यदि कोई उसकी बराबरी का था तो वह केवल अर्जुन था दूसरे में ऐसी शक्ति न थी कि भीष्म के बाणों के आगे ठहरता, पांडव अच्छी तरह से जानते थे कि जब तक भीष्म जीवित रहेंगे तब तक जय पाना असंभव है, इसलिये वे अनेक प्रकार से भीष्म पर आक्रमण करते थे, पर हर बेर भाग खड़े होते थे। तीन दिन की लड़ाई में भीष्म ने अनगिनत प्राणी नष्ट किये और रक्त की धारा बह चली जिधर जा पड़ता था उधर ही बात की बात में सैकड़ों और हजारों खेत रहते थे। कृष्ण पर इस तीन दिन की लड़ाई से भाग गया कि अर्जुन जी से नहीं लड़ता और भीष्म पर मार करने से झिझकता है !

उसे विश्वास था, कि अर्जुन के अतिरिक्त और किसी में यह पुरुषार्थ नहीं जो भीष्म को नीचा दिखावे और जब तक भीष्म जीवित है तब तक पांडवों का मनोर्थ सफल होना दुर्लभ है, इसलिये तीसरे दिन की लड़ाई में जब इसे पूरा विश्वास हो गया कि अर्जुन जी तोड़ के नहीं लड़ता और भीष्म पर धावा करते मुंह मोड़ता है तो वह मारे क्रोध के रथ से उतर पड़ा और शस्त्र हाथ में ले यह कहता हुआ भीष्म की ओर चला कि जिसको जाना हो वह चला जाय, जो मरने से डरता है वह पीछे रहे। यदि कोई भीष्म पर वार नहीं करता तो मैं आप भीष्म को मार गिराऊंगा कृष्ण की यह दशा देख अर्जुन कुछ लज्जित सा हुआ और मन में सोचने लगा कि कृष्ण ने तो लड़ाई

में शस्त्र न चलाने का प्रण किया था, यदि क्रोध वश अपना प्रण भंग कर बैठा तो इसका पाप मेरे सिर होगा। यह सोचकर वे भी कृष्ण के पीछे हो लिये। कुछ दूर जाने पर उनको पकड़ लिया और शपथ खाकर कहने लगे कि आप चिन्ता न करें मैं भीष्म को मारूंगा। इस सारी रचना से कृष्ण का यह अभि-प्रायः सिद्ध हुआ। अर्जुन से यह बात सुन के कृष्ण ठंडे हो गये और फिर रथ पर आ बैठे अब अर्जुन ने बड़े उत्साह से युद्ध आरम्भ किया। यहाँ तक कि लड़ाई का समाँ बदल दिया और हजारों आदमियों को मिट्टी में मिला दिया। पर फिर भी जब तक भीष्म जीवित थे तब तक लड़ाई का बंद होना असंभव था इसलिये पांडवों ने उनको पराजित करने के लिये अपनी समस्त शक्ति लगा दी।

उधर से दुर्योधन और उसके भाइयों ने पूर्ण रीति से भीष्म की रक्षा की और उनकी सहायता का प्रबन्ध किया। यहाँ तक कि सात दिन इसी दाँवपेच में समाप्त हो गये। नित्य प्रति हज़ारों का वारा न्यारा होता रहा। परन्तु सात दिन तक न भीष्म रणक्षेत्र से हटे न अर्जुन को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचा। सातवें दिन अर्जुन और सिखण्डी ने मिलकर भीष्म को अपने बाणों से लोटा दिया। अन्तमें वृद्ध, बाल जितेन्द्रिय और बाल ब्रह्मचारी भीष्म युद्ध के योग्य न रहे और गिर पड़े। जब भीष्म के गिरने का समाचार सैन्य दल में फैल गया तो द्रोण की आज्ञा से लड़ाई बन्द हो गई और दोनों ओर के योधा मान मर्यादा के विचार से उनके सिरहाने एकत्रित हुए। भीष्म ने तकिये के लिये इच्छा प्रगट की दुर्योधन इत्यादि ने भांति २ के बहुमूल्य और नरम तकिये मँगाये जिनको भीष्म ने अस्वीकार किया तत्पश्चात् अर्जुन से कहा कि मेरे अवस्था के अनुसार मेरे लिये तकिये बना दे। अर्जुन ने ऐसी योग्यता से तीन बाण भूमि

पर चलाये कि इन तीन बाणों ने भीष्म के सिर के लिये तकिये का काम दिया। बाण शय्या के लिये बाणों की ही तकिया उपयुक्त थी। भीष्म ने बहुत प्रसन्न होकर अर्जुन को आशीर्वाद दिया।

भीष्म के मृत्यु के सम्बन्ध में यह कहावत है कि जिस समय वह गिरे उस समय अगनित बाण लगे हुये थे और वह इसी तरह बाणों पर पड़े हुये कई दिन तक जीवित रहे मानो उनकी शय्या बाणों की बनी हुई थी और इसीलिये अर्जुन ने बाणों का सिरहना उनके लिये बनाया जिस से वह अति प्रसन्न हुए।

नोट—भीष्म और अर्जुन के युद्ध के सम्बन्ध में एक और कहावत है जो साधारण दृष्टि में पीछे से मिलाया गया हो ऐसा प्रतीत होता है। कहावत इस प्रकार है कि जब ६ दिन तक लड़ाई होती रही और भीष्म की कुछ हानि न पहुँची तब पांडव अधिक सोच में पड़े। तत्पश्चात् कृष्ण ने युधिष्ठिर को यह सलाह दी कि भीष्म के पास चलो और उनसे पूछो कि आपको किस भांति से पराजित किया जाय। जब युधिष्ठिर ने भीष्म के समीप जाकर यह प्रश्न किया तो भीष्म ने यह उत्तर दिया कि तुम्हारी सेना में जो युवराज शिखंडी राजा पंचाल का पुत्र है उसका स्वरूप स्त्रियों के सदृश है यदि वह मेरे ऊपर आक्रमण करे तो वह निश्चित मुझे मारने में समर्थ होगा क्योंकि मैं उससे स्वयं युद्ध नहीं करूंगा।

भीष्म के पास से लौटने पर पांडवों ने यह निश्चय किया कि दूसरे दिन शिखंडी को ही युद्ध का सेनापति बनाकर धावा किया जाय। जब दूसरा दिन हुआ तो अर्जुन ने शिखंडी को ही अगुआ बनाकर धावा किया। भीष्म भी इस युद्ध में अर्जुन को परस्पर का उत्तर देता रहा और दुर्योधन की सेना के अन्य

शूर वीर लोग भी शिखंडी पर लक्ष्यकर के निशाने मारते रहे।

बहुत से जाँच करने वाले व्यक्ति तो इस बात को पीछे की मिलावट ही मानते हैं क्योंकि यह समस्त वृत्तान्त ही से सत्यता का विश्वास नहीं दिलाता। प्रथम तो भीष्म जैसे व्यक्ति से कब सम्भव था कि वह अपने शत्रु को अपनी मृत्यु का उपाय बतला कर दुर्योधन से विश्वास घात करता। भीष्म तो दुर्योधन के पक्ष में युद्ध की प्रतिज्ञा कर चुके थे क्योंकि वह राजा धृतराष्ट्र के सभासद थे और विपक्ष में उनके वंशविरोधी महाराज पंचाल थे। अन्तःकरण से तो वह युधिष्ठिर के ही पक्ष पर थे और जानते थे कि दुर्योधन और धृतराष्ट्र गलत रास्ते पर हैं परन्तु अपनी मानसिक इच्छाओं द्वारा वह उन कर्तव्यों को समूल नष्ट नहीं कर सक्ते थे जो कि कौरव राज्य के प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित सभासद होने के सम्बन्ध से उन पर थे इधर युधिष्ठिर को उन्होंने राजा मान लिया था। न तो वह अपने राजा के विपक्ष शस्त्र ही व्यवहार करने में समर्थ थे और न उसके पथ युद्ध से विमुख हो सकते थे। ऐसे अधर्म से स्वयं पांडवों को अपनी ही मृत्यु का उपाय बतलाते। इसके अतिरिक्त यह प्रगट है कि शिखण्डी के रण में सामने आने पर भी भीष्म उस समय तक लड़ते रहे जब तक कि अर्जुन ने अपने बाणों की बौछाड़ से उसके सारथी को मार न डाला। फिर उसके धनुष को गिरा दिया। भीष्म जो तीर निकालते थे उनको भी अर्जुन काट डालता था। अशक्त होने पर अपनी तलवार व ढाल लेकर रथ से उतरने लगे। कदाचित् इस विचार से कि अब तलवार की लड़ाई लड़ें। परन्तु अर्जुन ने तीरों की लगातार वर्षा से ढाल व तलवार भी हाथ से गिरा दी। यहाँ तक कि वृद्ध भीष्म नवयुवक अर्जुन के तीरों से अशक्त हो कर भूमि पर गिर पड़े। इस के गिरते ही महाभारत की लड़ाई का प्रथम सीन (दृश्य)

समाप्त हो गया! तीरों की शय्या पर पड़े हुए भीष्म ने बहुत कुछ दुर्योधन को मेल करने का उपदेश किया परन्तु दुर्योधन कब मानने वाला था। उसको अपनी सेना के समूह पर इतना भरोसा था कि भीष्म के पराजय होने पर भी उसको अपनी अन्तिम जय की पूरी आशा थी।

——:o::o:——

एकोनत्रिंशत् अध्याय।

महाभारत के युद्ध का दूसरा दृश्य
द्रोण का सैनापत्य।

भीष्म विजय के दूसरे दिन दुर्योधन ने अपने सेना का सैनापत्य महाराज द्रोण को सौंपा। यद्यपि द्रोण जाति के ब्राह्मण थे तथापि युद्धविद्या और शस्त्रविद्या में अपने समय का आचार्य तथा इस विद्या में बड़े निपुण थे। युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, दुर्योधन इत्यादि सब इनके शिष्य थे जिनमें अर्जुन सब से इस विद्या में निपुण था। कुछ लड़ाई की प्रणाली ऐसी थी जो उसने केवल अर्जुन के छोड़ और किसी को नहीं सिखाई थी।

द्रोण के सेनापत्य में बड़े जोर से युद्ध आरम्भ हुआ और अधिक मार काट होती रही। एक दिन अर्जुन लड़ाई का मैदान छोड़ कर एक किनारे पर कौरव सेना के उस भाग से युद्ध कर रहे थे जो द्रोण ने दुर्योधन के आधिपत्य में भेजी थी। पीछे से द्रोण ने पांडवों पर ऐसे दाँव पेंच लगाये कि वे घबड़ा गये। उन्होंने पांडवों के एक बड़े समूह को ऐसे व्यूह में घेर लिया कि उनके लिये बचना कठिन हो गया क्योंकि पांडवों की सेना में अर्जुन के अतिरिक्त और कोई इस व्यूह की लड़ाई को नहीं जानता था। अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु जो केवल १६ वर्ष का युवक था कुछ २ इस व्यूह विद्या को जानता था। सुतरां वह

वीरता से रणक्षेत्र में आया और अपनी बड़ी वीरता से लड़ने लगा ! इस १६ वर्ष के युवक ने कौरव सेनापतियों व सरदारों को इतना कष्ट दिया कि उन्होंने इसके अतिरिक्त और कोई उपाय न सोचा कि सात चुने हुये महारथी (जिसमें द्रोण स्वयं भी सम्मिलित थे) एकत्र होकर उस पर आक्रमण करने लगे। अभिमन्यू अभी बालक ही था। उसमें इतनी सामर्थ्य कहाँ थी कि इन सात योद्धाओं के साथ सफलता से सामना करता। बेचारा युद्ध करता हुआ रण में घायल हो गया और गिरते ही किसी ने उसका सिर काट लिया। अभिमन्यु का बध होना था कि पांडवों के दल में रोना पीटना होने लगा। अभिमन्यु कृष्ण की बहिन सुभद्रा का पुत्र था । सारे पांडव उसको बहुत प्यार करते थे। सारी सेना उसकी सुन्दरता, वीरता, युद्ध कौशलता तथा बाण विद्या पर मुग्ध थी। सायंकाल जब लड़ाई बंद हुई तो कृष्ण और अर्जुन लड़ते लड़ते कैम्प में आये तो सारी सेना को विलाप करते हुए पाया। अर्जुन की आँखों के सामने अन्धकार छा गया। युधिष्ठिर अलग बेसुध थे। अंत में कृष्ण ने अपनी चतुर नीति से फिर सब को धैर्य दिया और अर्जुन को समझाने लगे कि अभिमन्यु तो युद्ध करता हुआ सीधा स्वर्गधाम को सिधारा। तुम क्षत्री-पुत्र की मृत्यु पर रुदन करके क्यों अपना परलोक बिगाड़ते हो। क्षत्रियों के लिये ऐसी मृत्यु बड़े सौभाग्य की है। सुतरां इसी प्रकार उसने अपनी बहिन सुभद्रा और दूसरे सैनिकों को भी संतोष देकर शांत किया।

अर्जुन को यह बतलाया गया कि सिन्ध के राजा जयद्रथ ने अभिमन्यु का सिर काटा है। अर्जुन ने उसी समय यह प्रतिज्ञा की कि कल सायंकाल से पहले मैं जयद्रथ को मार कर अपने पुत्र का बदला लूँगा, नहीं तो स्वयं जीते जी अग्निमें

जल कर भस्म हो जाऊंगा। कृष्ण को अर्जुन की इस प्रतिज्ञा से बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा कि अर्जुन की इस प्रतिज्ञा की खबर अभी दुर्योधन को पहुँच जायगी और वह ऐसा प्रबंध करेगा कि जयद्रथ अर्जुन के सामने ही न आवे और दूर ही दूर रहे, उसके लिये यह कठिन भी न होगा कि कल सायंकाल तक किसी न किसी प्रकार जयद्रथ को बचा सके। यदि कल सायंकाल तक जयद्रथ न मारा गया तो बस अर्जुन का अंत है। सुतरां उसने अपने सारथी को आज्ञा दी कि "कल मेरा रथ पूर्ण रीति से सुसज्जित रहे।" क्योंकि अर्जुन की जान बचाने के लिये यदि आवश्यकता हुई तो मैं स्वयं ऐसी रीति व्यवहार में लाऊंगा जिससे जयद्रथ मारा जावे और अर्जुन बचा रहे।

दूसरे दिन जब युद्ध आरम्भ हुआ तो दुर्योधन ने अपनी सेना को इस भाँति से जमाया जिससे जयद्रथ एक किनारे पर रखा गया और कुल सामिग्री उसके बचाव के लिए की गई क्योंकि कौरवों के लिए जयद्रथ का सायंकाल तक जीवित रहना जय प्राप्त करने का समान था। पांडवों की सेना में से यदि अर्जुन निकल जाता तो फिर दुर्योधन के जीतने में क्या शंका थी। अगले दिन कृष्ण ने सारथी के ऐसे गुण दिखाये कि युद्ध के बीचों बीच व्यूह को चीर कर इस रीति से अर्जुन को जयद्रथ के सामने लाकर खड़ा किया कि जयद्रथ के लिये लड़ने के अतिरिक्त और कोई उपाय न रहा। ऐसा क्यों न होता जब कि अर्जुन जैसा महाबली वीर और कृष्ण जैसा सारथी हो। कृष्ण तो सारथी विद्या का कौशल दिखा सकते थे परन्तु उनका कौशल किस काम आता यदि अर्जुन उपस्थित वीरों से अपने आप को न बचाता क्योंकि सारे रास्ते में भयङ्कर युद्ध होता रहा। कौरव सेना के सब बड़े बड़े योद्धा

बारी २ से लड़ते। कभी भिन्न भिन्न और कभी कई एकत्र होकर अर्जुन से युद्ध करते रहे, परन्तु वीर अर्जुन सब से युद्ध करता हुआ किसी को मारता, किसी से बचाता, किसी को अपनी सेना के दूसरे योद्धाओं को सौंपता अपनी जान को हथेली पर लिये बाणवर्षा, निशानेबाज़ी और युद्ध के कर्तव्य दिखलाता हुआ जयद्रथ के सामने जा पहुँचा और उसको युद्ध करने पर बाध्य किया और युद्ध में उसका सिर काट कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

इस प्रकार कई दिन लड़ाई होती रही और दोनों दल के प्रसिद्ध २ क्षत्री मृत्यु के मुंह में जाते रहे। द्रोण कई दिनों तक बड़ी वीरता तथा चतुरता से पांडव सेना का नाश करते रहे परन्तु अन्त में वे इतना घायल हो गये कि शस्त्र उनके हाथ से गिर गये और धृष्टद्युम्न ने उनका सिर काट लिया। द्रोण की मृत्यु से महाभारत के युद्ध का दूसरा दृश्य समाप्त हुआ। दूसरा दृश्य क्या समाप्त हुआ मानों युद्ध का अर्धभाग समाप्त हुआ।

नोट—द्रोण की मृत्यु के सम्बन्ध में एक कहावत है जो वास्तव में पीछे की मिलाई हुई मालूम होती है। वह इस प्रकार है कि द्रोण ने युद्ध में इस प्रकार के शस्त्र प्रयोग किये जो दूसरी ओर के लोग नहीं जानते थे और इसलिये वे इन शस्त्रों की मार से बचने की प्रणाली से अनभिज्ञ थे। जिसका परिणाम यह हुआ कि द्रोण ने पांडवसेना को बड़ी हानि पहुँचाई। इस हानि को देखकर श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को यह सलाह दी कि द्रोण को किसी न किसी प्रकार मारना चाहिये। चाहे इस अभिलाषा के लिये कोई झूठी अधर्म की चाल क्यों न चलनी पड़े और यह सम्मति दी कि यदि द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा

मारा जाय तो वह लड़ना छोड़ देगा। इसलिये मिथ्या ही उसको यह खबर पहुँचा दी जाय कि अश्वत्थामा मर गया।

अर्जुन और युधिष्ठिर ने इस सलाह को अस्वीकार किया परन्तु भीम और अन्य दर्बारियों को यह चाल बहुत पसन्द आई और उन्होंने युधिष्ठिर पर दबाव डाला कि स्वयं आप अपने मुख से कहें क्योंकि आप के अतिरिक्त और किसी के कथन का द्रोण को विश्वास न होगा।

युधिष्ठिर ने बहुत कुछ संकोच किया परन्तु भीम इत्यादि ने उस पर बड़ा ज़ोर डाला। सुतरां यह निश्चित करके अश्वत्थामा नाम के हाथी को मारा गया और द्रोण पर यह प्रगट किया गया कि तुम्हारा पुत्र अश्वत्थामा मारा गया। परन्तु उन्होंने किसी के कहने पर विश्वास नहीं किया और युधिष्ठिर से पूछा। युधिष्ठिर ने कहा कि "हां, अश्वत्थामा मारा गया" परन्तु धीरे से यह भी कह दिया—"हाथी" द्रोण ने "हाथी" तो सुना नहीं और अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनकर बड़ा दुखित हुआ। यद्यपि उसके बाद बराबर लड़ते रहे परन्तु हृदय टूट जाने से दुःखित होकर शस्त्र छोड़ दिया। उनके शस्त्र छोड़ते ही विपक्षियों ने उनका सिर काट डाला।

अनेक विद्वानों की सम्मति है कि यह कहानी पीछे से मिलाई गई है। द्रोण ब्राह्मण थे और धृष्टद्युम्न क्षत्रिय था। क्षत्रिय के लिये ब्राह्मण का मारना उचित नहीं था। इस कारण पांचाल दर्बार के किसी कवि ने अपने राजपुत्र से ब्रह्महत्या का पाप दूर करने के लिये इस युद्ध का सारा बोझ श्रीकृष्ण के सिर मढ़ दिया है। श्रीकृष्ण को तो स्वयम् परमेश्वर माना ही जाता है। परमेश्वर सब कुछ कर सकता है और उसके लिये सब कुछ उचित है। इसलिये उनके विचार में श्रीकृष्ण पर कुछ दोष नहीं आ सकता। सम्भवतः इस कहावत का एक

और अभिप्राय भी है। यानी लड़ाई में धोखा, चाल बाजी और झूठ का व्यवहार यथोचित माना जाता है तो भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस समय यह कहानी बढ़ाई गई उस समय भी आर्यपुरुषों में सत्यता का इतना मान था और सर्व साधारण को झूठ व धोखे से इतनी घृणा थी कि इस कहानी के बनाने वाले महाशय को यह भी बढ़ाना पड़ा कि जिस समय युधिष्ठिर ने यह असत्य कहा इससे उसका रथ जो सत्यता के कारण पृथिवी से कुछ ऊँचे पर चला करता था वह पृथिवी पर चलने लग गया था। युधिष्ठिर के लिये यह प्रसिद्ध है कि इससे पहले उन्होंने कभी असत्य नहीं कहा था और उसकी सत्यता के प्रताप से ऐसा था कि जिस रथ पर बैठता था वह रथ पृथ्वी से कई हाथ ऊपर हवा में चला करता था। परन्तु जब उन्होंने असत्य कहा तो तुरन्त उनका रथ पृथ्वी पर गिर पड़ा और अन्य साधारण मनुष्यों में तथा उनमें कोई भेद न रहा। ऊपर लिखे लेख से यह प्रगट है कि द्रोण अश्वस्थामा की मृत्यु का समाचार सुनने पर युद्ध करता रहा। बस हम उन ग्रन्थ-कर्ताओं से सहमत हैं जिनकी सम्मति में यह कहानी पीछे की मिलावट और घटना के विरुद्ध प्रतीत होती है। द्रोण के देहान्त के बाद का भाग सब का सब गप्प मालूम होता है। कवि को अपनी बात निभाने के लिये पांडव कैम्प में झगड़ा डलवाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अर्जुन इत्यादि की इस धोखे बाज़ी पर युधिष्ठिर का धिक्कारना और भीम व धृष्टद्युम्न उसकी सहायता करते हैं इत्यादि इत्यादिः—

त्रिंशति अध्याय।

महाभारत के युद्ध का तीसरा दृश्य कर्ण और अर्जुन का सामना।

युद्ध तो भीष्म और द्रोण के मृत्यु के पश्चात् से ही समाप्त हो गया था परन्तु तो भी दुर्योधन को कर्ण की बाणविद्या और उसकी शस्त्रविद्या पर इतना विश्वास था कि अभी तक सफलता का टिमटिमाता हुआ दीपक कभी २ उसके आंखों के सामने झलक दिखा जाता था। कर्ण ने यह शपथ खाई थी कि वह अर्जुन को मारेगा या स्वयम् युद्ध में उसके हाथ से मारा जायगा।

द्रोण के मरने पर दुर्योधन ने कर्ण को अपनी सेना का नायक बनाया। कर्ण ने भी युद्ध में ऐसा कौशल दिखलाया कि देवता भी उसका सिक्का मान गए। कई अवसरों पर उसने युधिष्ठिर को युद्ध में नीचा दिखाया और पांडव सेना को बहुत हानि पहुँचाई। पहले कृष्ण अर्जुन को इसके सामने युद्ध में आने से रोकते रहे। जब कर्ण पांडवसेना के विख्यात योद्धाओं से लड़ता लड़ता थक गया और पांडव कैम्प में और कोई अन्य वीर उसके सामने लड़ने वाला न रहा तो कृष्ण ने अर्जुन को कर्ण के सामने किया। कर्ण और अर्जुन का युद्ध क्या था मानों भूचाल था। दोनों वीरों ने तीरों की बौछाड़ से युद्ध-स्थल धुंआधार कर दिया और शस्त्रविद्या के ऐसे कौशल दिखलाये कि पांच हजार वर्ष व्यतीत होने पर भी अभी तक अर्जुन और कर्ण का नाम सर्वसाधारण के सामने है। इस युद्ध में कृष्ण पर भी बाणों और अन्य शस्त्रों की बहुत मार रही परन्तु वह अपने समय का एक ही पुरुष था। खूब होश-

यारी से अपने आपको बचाता रहा और अर्जुन को लड़ाई के लिये उत्तम से उत्तम स्थान पर लेजाकर खड़ा करता रहा। एक समय कर्ण के रथ का पहिया कीचड़ में फंस गया। कर्ण स्वयं पहिये को निकालने के लिये रथ से नीचे उतरा और उसने युद्ध धर्म के नाम पर अर्जुन से अपील की कि जब तक मैं फिर रथ पर न बैठ जाऊं, युद्ध रुका रहे।

उस समय कृष्ण ने यद्यपि संकेत से अर्जुन को रोक दिया परन्तु बड़े जोर से कर्ण को इस बात पर धिक्कारा कि अब अपनी जान के लिये तो धर्म्म याद आ गया, उस दिन धर्म्म कहां भूल गया था जब तेरी उपस्थिति में द्रौपदी को राजसभा में बेइज़्ज़त किया गया था, जब तुम सात आदमियों ने इकट्ठे होकर बेचारे अभिमन्यु को मारा था, जब तेरी सम्मति से दुर्योधन ने पांडवों के महल में आग लगा दी थी इत्यादि इत्यादि। कर्ण इस धिक्कार का क्या उत्तर देता? गाड़ी का पहिया निकाल कर फिर लड़ने लगा और अंत में अर्जुन के हाथ से मारा गया। कर्ण के मरते ही कौरव सेना ने भागना आरम्भ किया और दुर्योधन के शिविर में दुःख और शोक छा गया। हा! लालच और क्रोध ने दुर्योधन की आँखों पर ऐसा परदा डाल दिया कि इतनी मार काट पर भी उसका चित्त नरम न हुआ और अब तक उसके दिल से राज्य की अभिलाषा न गई।

एकत्रिंशत अध्याय।

अन्तिम दृश्य व समाप्ति।

दूसरे दिन मद्रदेश का राजा शल्य सेनापति बनकर युद्ध
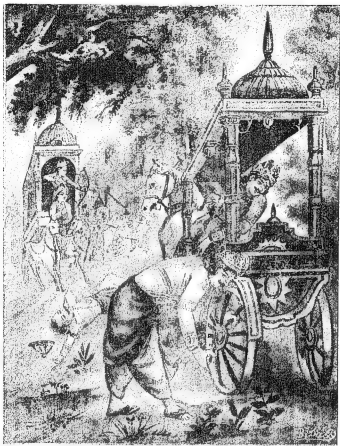
कर्ण बध   पृ० सं० १३४
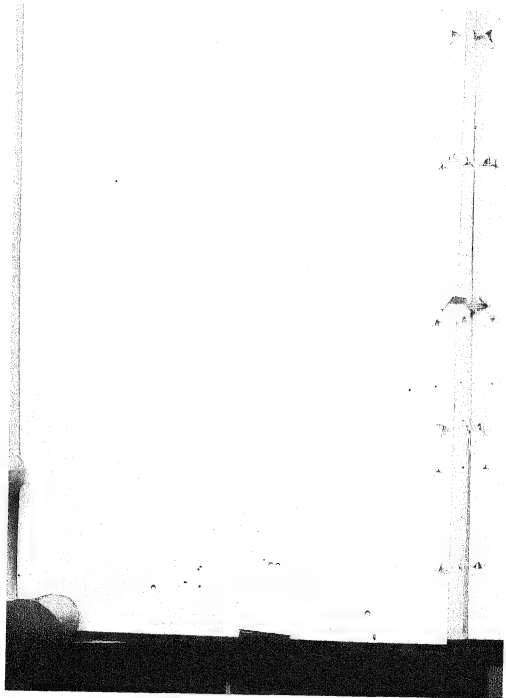
में आया परन्तु थोड़ी देर में ही घायल होकर गिर पड़ा। राजा के मरते ही सेना तितिर बितिर होगई।

दुर्योधन भाग गया और एक बन में जाकर छिप रहा, परन्तु मृत्यु कब अवसर देती थी। पांडव पीछा करते हुए बन में पहुँचे और उन्होंने दुर्योधन के स्थान का पता लगा लिया। युधिष्ठिर ने ज़ोर से पुकार कर दुर्योधन को कहा कि हे दुर्योधन! स्त्रियों की तरह छिप कर अपने वंश को क्यों कलंकित करता है। बाहर आ, युद्ध कर, यदि तू हम में से एक को भी लड़ाई में मार डाले तो हम सब राज पाट तुझे सौंप कर जंगल को चले जावेंगे।

युधिष्ठिर की इन बातों पर दुर्योधन के चित्त में फिर आशा की चिनगारी चमक उठी और उसने कहा कि "मैं राज्य* के वास्ते तो अब लड़ना नहीं चाहता परन्तु बदला लेने की अग्नी मेरे हृदय में भड़क रही है। मैं अपने साथियों की मृत्यु का बदला लेने के लिये तुम से लड़ने को उद्यत हूँ। राज तो मैंने तुझको दे दिया। जा अब इस वीरान जंगल पर तू राज्य कर। ऐसा राज्य दुर्योधन के काम का नहीं।" युधिष्ठिर ने फिर कहा कि "हे दुर्योधन! दान की तरह तुझ से राज्य लेना स्वीकार नहीं है। अब मैदान में आकर युद्ध कर। यदि तू हम में से किसी को मार ले तो राज तेरा हुआ, और हम सब भाई बन को चले जावेंगे।" दुर्योधन ने कहा, अच्छा! मुझे युद्ध स्वीकार है परन्तु मैं गदा युद्ध करूंगा। गदा युद्ध करने की जिसमें सामर्थ हो मेरे सामने आवे। हे युधिष्ठिर तेरी और अर्जुन ऐसी छोटी छोटी मुर्दा जानों से क्या लड़ूंगा। भीम मेरे टक्कर का है उससे लड़ूंगा। सुतरां भीम और दुर्योधन मस्त हाथियों की तरह एक दूसरे के साथ भिड़ गये। अन्त में भीम

* यदि यह विचार लड़ाई से पहले दुर्योधन के चित्त में पैदा होता?

ने अवसर पाते ही दुर्योधन की जांघ पर ऐसी गदा जमाई कि वह घायल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके गिरते ही भीमसेन ने उसके सिर पर एक लात मारी। युधिष्ठिर और कृष्ण ने उसको ऐसा करने से रोका क्योंकि आर्य पुरुषों में परास्त हुए बैरी का अपमान करना बहुत बुरा समझा जाता है। दुर्योधन की इस हार से महाभारत के युद्ध का अन्त होगया। पांडव जीत करके अपने शिविर में वापस आये और अपनी जीत के हर्ष में नाचरंग करने लगे।

यद्यपि उन प्राणियों की हानि से जो इस युद्ध में हुई थीं यह नाच रंग बहुत फीका था और पुत्रों, भाइयों, संबन्धियों और मित्रों की लाशें रणभूमि में पड़ी हुई नाच रंग के उत्सवों को दुःखमय बना रही थीं परन्तु तौ भी यह जीत थी जिससे पांडव प्रसन्न थे कि दुष्ट की समाप्ति हुई, शत्रु मारे गये, सत्य की जय हुई, दुर्योधन और उसके भाइयों का बड़ी बड़ाहट व अत्याचार उनके सामने आए और द्रौपदी के अपमान का बदला भी खूब निकला। सुतरां इस आनन्द में पांचों पांडव उस दिन शिविर से बाहर रहे और रात को भी शिविर में नहीं आए। इधर तो विजय के आनन्द में खुले जंगल की वायु का आनन्द ले रहे थे और उधर मृत्यु देवता अपनी घात में लगे हुए थे।

जब पांडव दुर्योधन को रणभूमि में छोड़ कर वापस चले गए तो उसके सेना के तीन बचे हुए सेनापति यानी अश्वत्थामा (द्रोणपुत्र) कृपाचार्य और कृतवर्मा उसके पास आए। उसको इस बुरी अवस्था में देख कर रोने लगे। या तो एक समय वह था कि दुर्योधन आर्य्यावर्त के सबसे बड़े राज्य का मालिक था, असंख्य सेना का नायक था, दिग्गज और सुंदर महलों में निवास करता था, उत्तम से उत्तम और कोमल से कोमल सेजों पर सोता था। सैकड़ों और सहस्रों मनुष्य आज्ञा

के पालन के लिये हर समय प्रस्तुत रहते थे, आनन्द भोग में निमग्न रहता था और राज्य और सम्पत्ति के नशे में ऐसा चूर था कि बुरे भले और कुछ न्याय, अन्याय, धर्म अधर्म में विचार नहीं कर सकता था। आज वह दिन था कि राजपुत्र दुर्योधन धूलि में पड़ा सिसकता है। इधर उधर चारों ओर लाशों के ढेर थे। जो पुकार पुकार उसकी नालायकी उसके घमंड और अन्याय पर धिक्कारते थे। अभी थोड़े ही दिन हुए थे कि उसने एक बड़े समूह की सेना के साथ बड़े धूमधाम व प्रचंड उत्साह से थानेश्वर के मैदान में डेरा डाला था और उसको कभी स्वप्न में भी यह ध्यान न था कि इन अगणित मनुष्यों के इकट्ठे होने का कदाचित यही फल हो जो आज उसके नेत्रों के सामने घूम रहा है। भाई, मित्र, सम्बन्धी सब जो थे आज चारों ओर खूनी वस्त्र पहने हुए मिट्टी में पड़े हुए थे और पक्षी उड़ उड़ कर आते और उनके शरीर के मांस को नोच २ कर ले जाते थे। इन सब का प्रिय सर्दार दुर्योधन स्वयं भी शत्रु के हाथ से परास्त होकर जीने से निराश होकर साथियों के साथ प्रेम का दम भरता हुआ भूमि पर पड़ा था। परमात्मा ने उसको इसलिये अब तक जीता रक्खा था कि वह अपनी मूर्खता का परिणाम अच्छी तरह से देख समझ और अनुभव कर अपना प्राण छोड़े। हा! वह कैसा भयानक और शिक्षाप्रद दृश्य था। कौरव वंश का अधिपति, इन्द्रप्रस्थ के राजा का पुत्र और उसकी यह अवस्था, ऐसे अवसर पर तो शत्रु भी रो देता है। अश्वत्थामा और कृपाचार्य इत्यादि को तो रोना ही था रोने धोने के पश्चात् अश्वत्थामा ने दुर्योधन पर प्रकट किया कि बदला लेने की आग उसके हृदय में वेग से जल रही है और उसने दुर्योधन से बदला लेने की आज्ञा मांगी। सुतरां दुर्योधन ने कृपाचार्य इत्यादि की ओर लक्ष्य करके उस

समय अश्वत्थामा को अपनी सेना का सेनाध्यक्ष निश्चित किया और उसको युद्ध जारी रखने की आज्ञा दी।

कौरव वंश के दुर्गति की अभी समाप्ति नहीं हुई थी। द्रोण के वीरपुत्र के चित्त में बदले की ज्वाला प्रदीप्त हो रही थी। उसने यह निश्चय कर लिया था कि चाहे धर्म से या अधर्म से पिता का बदला अवश्य लूंगा।

कौरवसेना के ये तीनों बचे हुए वीर आपस में विचार करने लगे कि किस प्रकार से इस अभिलाषा को पूरा किया जावे। कृपाचार्य ने तो धर्म्म की लड़ाई लड़ने की सलाह दी परन्तु अश्वत्थामा ने रात्रि को धोखे से युद्ध करने का विचार प्रगट किया। कितना ही कृपाचार्य ने समझाया कि ऐसा करना घोर पाप है। ऐसे महापाप के कार्य से तेरी आत्मा घोर नरक में पड़ेगी जिससे छुटकारा कठिन होगा। जीवन की अन्त अवस्था में इस प्रकार के भीरुपन का कार्य वीरता तथा प्रतिष्ठा पर बट्टा लगावेगा। सारी आयु की कीर्ति, यश, प्रसिद्धी पर पानी फिर जायगा। ब्राह्मण सन्तान तथा शस्त्रविद्या में निपुण होकर तेरे लिए यह योग्य है, कि तू इस प्रकार के पाप से अपने पवित्र जीवन पर धब्बा न लगावे। सुतरां कृपाचार्य ने अपनी योग्यता से अश्वत्थामा को इस अधर्म्म की कार्रवाई से रुकने का उपदेश किया परन्तु अश्वत्थामा पर कुछ भी असर नहीं हुआ। ब्रह्मकोप शान्त नहीं हुआ। कृपाचार्य की की धार्म्मिक वक्तृता की हर एक बात का अश्वत्थामा के चित्त पर ऐसा ही असर होता था जैसे कि जलती हुई आग में घी की आहुति देने से होता है। क्रोध में अपने आपे से बाहर हो गया। अश्वत्थामा बदले की आग में भस्म होता हुआ चुपके से रात को पांडव कैम्प में घुस गया।--सबसे पहले तो सीधा पंचाल के राजा धृष्टद्युम्न के डेरे की ओर बढ़ा जिसने उसके

बाप को मारा था उसके रक्त में हाथ रंग कर फिर छोटे बड़े पर हाथ साफ करने लगा यहां तक कि जो सामने आया चाहे सिपाही या राजपुत्र वृद्ध या युवक वह उस भयङ्कर रात्रि में द्रोणपुत्र के हाथ सीधा मृत्यु के मुंह में गया। अश्वत्थामा ने खूब दिल खोल कर क़तलेआम किया और जब सबके सब पांडव राजपुत्रों को मार चुका तो चुपके से खेमे के बाहर हो गया और सीधा उस स्थान पर गया जहां दुर्योधन पड़ा था। दुर्योधन अभी तक सिसकता था कि अश्वत्थामा पहुँच गया। प्रथम तो दुर्योधन की अवस्था देखकर दुःख के सागर में डूब गया और उसके पास बैठकर खून के आंसू बहाये फिर अन्त में रोते रोते दुर्योधन को उस बदले का हाल सुनाया जिसे वह अभी पूरा करके आया था। दुर्योधन ने जब सुना कि पांडवों के पुत्र और पांचाल के सब राजपुत्र मारे गये तो संतोष भरी सांस ली और खूब किया, खूब किया, कहते हुए प्राण छोड़ दिये। महाभारत के युद्ध का अन्तिम दृश्य हो चुका। थानेश्वर के मैदान में आर्यों की इस घर की लड़ाई ने आर्य्यों की सभ्यता, उनका मान, उनकी बुजुर्गी और उनकी बड़ाई को धूल में मिला दिया। युद्ध के आरम्भ होने से २० दिन के अन्दर अन्दर भूमि के बड़े बड़े योधा, बहादुर और वीर सिपाही; युद्ध विद्या में निपुण वीरता और युद्ध की योग्यता को प्रगट करते हुए अपने अपने पंचतत्व के शरीर को तत्वों में मिलाते हुए स्वर्ग में चले गये और संसार को पता भी न लगा कि वे कहाँ गए और क्या हुए।

समय अश्वत्थामा को अपनी सेना का सेनाध्यक्ष निश्चित किया और उसको युद्ध जारी रखने की आज्ञा दी।

कौरव वंश के दुर्गति की अभी समाप्ति नहीं हुई थी। द्रोण के वीरपुत्र के चित्त में बदले को ज्वाला प्रदीप्त हो रही थी। उसने यह निश्चय कर लिया था कि चाहे धर्म से या अधर्म से पिता का बदला अवश्य लूंगा।

कौरवसेना के ये तीनों बचे हुए वीर आपस में विचार करने लगे कि किस प्रकार से इस अभिलाषा को पूरा किया जावे। कृपाचार्य ने तो धर्म्म की लड़ाई लड़ने की सलाह दी परन्तु अश्वत्थामा ने रात्रि को धोखे से युद्ध करने का विचार प्रगट किया। कितना ही कृपाचार्य ने समझाया कि ऐसा करना घोर पाप है। ऐसे महापाप के कार्य से तेरी आत्मा घोर नरक में पड़ेगी जिससे छुटकारा कठिन होगा। जीवन की अन्त अवस्था में इस प्रकार के भीरुपन का कार्य वीरता तथा प्रतिष्ठा पर बट्टा लगावेगा। सारी आयु की कीर्ति, यश, प्रसिद्धी पर पानी फिर जायगा। ब्राह्मण सन्तान तथा शस्त्रविद्या में निपुण होकर तेरे लिए यह योग्य है, कि तू इस प्रकार के पाप से अपने पवित्र जीवन पर धब्बा न लगावे। सुतरां कृपाचार्य ने अपनी योग्यता से अश्वत्थामा को इस अधर्म्म की कार्रवाई से रुकने का उपदेश किया परन्तु अश्वत्थामा पर कुछ भी असर नहीं हुआ। ब्रह्मकोप शान्त नहीं हुआ। कृपाचार्य की की धार्मिक वक्तृता की हर एक बात का अश्वत्थामा के चित्त पर ऐसा ही असर होता था जैसे कि जलती हुई आग में घी की आहुति देने से होता है। क्रोध में अपने आपे से बाहर हो गया। अश्वत्थामा बदले की आग में भस्म होता हुआ चुपके से रात को पांडव कैम्प में घुस गया। सबसे पहले तो सीधा पंचाल के राजा धृष्टद्युम्न के डेरे की ओर बढ़ा जिसने उसके

बाप को मारा था उसके रक्त में हाथ रंग कर फिर छोटे बड़े पर हाथ साफ करने लगा यहां तक कि जो सामने आया चाहे सिपाही या राजपुत्र वृद्ध या युवक वह उस भयङ्कर रात्रि में द्रोणपुत्र के हाथ सीधा मृत्यु के मुंह में गया। अश्वत्थामा ने खूब दिल खोल कर क़तलेआम किया और जब सबके सब पांडव राजपुत्रों को मार चुका तो चुपके से खेमे के बाहर हो गया और सीधा उस स्थान पर गया जहां दुर्योधन पड़ा था। दुर्योधन अभी तक सिसकता था कि अश्वत्थामा पहुँच गया। प्रथम तो दुर्योधन की अवस्था देखकर दुःख के सागर में डूब गया और उसके पास बैठकर खून के आंसू बहाये फिर अन्त में रोते रोते दुर्योधन को उस बदले का हाल सुनाया जिसे वह अभी पूरा करके आया था। दुर्योधन ने जब सुना कि पांडवों के पुत्र और पांचाल के सब राजपुत्र मारे गये तो संतोष भरी सांस ली और खूब किया, खूब किया, कहते हुए प्राण छोड़ दिये। महाभारत के युद्ध का अन्तिम दृश्य हो चुका। थानेश्वर के मैदान में आर्यों की इस घर की लड़ाई ने आर्य्यों की सभ्यता, उनका मान, उनकी बुज़ुर्गी और उनकी बड़ाई को धूल में मिला दिया। युद्ध के आरम्भ होने से २० दिन के अन्दर अन्दर भूमि के बड़े बड़े योधा, बहादुर और वीर सिपाही; युद्ध विद्या में निपुण वीरता और युद्ध की योग्यता को प्रगट करते हुए अपने अपने पंचतत्व के शरीर को तत्वों में मिलाते हुए स्वर्ग में चले गये और संसार को पता भी न लगा कि वे कहाँ गए और क्या हुए।

द्वात्रिंशत अध्याय।

युधिष्ठिर की राजगद्दी।

युद्ध के समाप्त होते ही पांडवों ने कृष्ण को हस्तिनापुर बिदा किया जिसमें वह वहां जाकर युद्ध की पूरी अवस्था की धृतराष्ट्र को सूचना देदें क्योंकि यह कठिन कार्य किसी साधारण पुरुष के करने का न था। कृष्ण हस्तिनापुर पहुंचे। धृतराष्ट्र और उसकी धर्मपत्नी गांधारी दुःख में रोते पीटते थे। कृष्ण ने इधर उधर की बातें मिलाकर उनको ठंडा किया और संतोष दिलाया। सुतराम् गांधारी ने अपने मृत पुत्रों के दर्शन की अभिलाषा प्रगट की और राजा रानियों के सहित रणभूमि के तरफ चले। वहां पहुँच कर जो दृश्य रानियों महारानियों ने देखा वह असह्य था। रानियां देखती थीं और रोती थीं। तमाम प्यारी सूरतें रक्त में लिपटी हुई एक दूसरे के ऊपर पड़ी हुई थीं। बहुतेरों को तो जानवरों ने पहचानने के योग्य ही नहीं रक्खा था परन्तु बहुतेरे अभी पहचाने जा सकते थे। अपने अपने सम्बधियों को देखकर स्त्रियां रोती थीं। गांधारी अपने बेटों को देखकर रोती थी और कुन्ती अपने पोतों को रोती थी सुतराम् सारे वंश में कोई स्त्री ऐसी नहीं थी जिसके लिये इस युद्ध में सिर पीटने और चिल्लाने के लिये सामग्री न थी। गांधारी के निसबत यह प्रसिद्ध था कि वह बड़ी समझ वाली बुद्धिमती और धर्मात्मा स्त्री थी। इसके सम्बन्ध में जो कहावतें महाभारत में हैं उनमें इसकी धैर्यता बुद्धिमता और गम्भीरता के पूरे प्रमाण मिलते हैं परन्तु कौन माता है जो अपने समस्त वंश को इस तरह अपने नेत्रों के सामने खून में लपटा हुआ देखकर अपने धैर्य को स्थिर रख सके। इसलिये आश्चर्य

इसमें क्या हो सकता है कि कुरुक्षेत्र की भूमि में अपने पुत्रों के मृतक शरीरों को देखकर उसने कृष्ण को शाप दिया हो और उसको इस बरबादी और खूंरेज़ी का जिम्मेदार ठहराया हो। अन्त में कृष्ण के द्वारा चाचा और भतीजों में मिलाप हो गया। भतीजों ने बड़ी नम्रता से चाचा और चाची के चरणों पर सिर रख दिये। युधिष्ठिर पर तो इतना दुख छाया हुआ था कि उसने राज करने से इन्कार कर दिया। कितना ही उसके भाई समझाते थे परन्तु वह नहीं मानता था। यहां तक कि स्वयं धृतराष्ट्र और गान्धारीने भी युधिष्ठिर को बहुत कुछ समझाया परन्तु उसने अपने मन्तव्य पर दृढ़ता प्रगट की और यही कहते थे कि तमाम भाई बंधुओं और बड़ों के रक्त में हाथ रंग कर अब क्या राज करने में मुझे सुख हो सकता है। मेरे लिये अब यही शेष है कि तप करके अपने पापों का प्रायश्चित करूं और बाक़ी का जीवन परमात्मा की याद में अर्पण करके अपनी आत्मा को दुख व क्लेश से बचाऊं अन्त में अब सब कह चुके और कुछ असर न हुआ तो फिर कृष्ण ने कुछ व्यंग सुनाये। कभी नर्मी और कभी गर्मी से काम लेते हुए उसने अंत में क्षात्र धर्म के नाम पर युधिष्ठिर से अपील की और उसको वश में किया। कृष्ण का सारा जीवन यह बताता है कि यह उसका सब से ज़बरदस्त और उपयुक्त हथियार था जो कभी चूकता न था। अपने समय की फिलासफी और वर्ण धर्म के विषय में वह ऐसे निपुण थे कि उनकी व्यवस्था कभी खाली न जाती थी। वैराग्य फ़िलासफी को वह ऐसा दिखलाते थे कि उनके सामने झूँठे त्याग के विचार भागते ही दिखाई देते थे। वैदिक धर्म के पृथक २ भावों को वह ऐसा मिलाते थे कि एक श्रेणीबद्ध प्रमाणित दृश्य तैयार कर देते थे, प्राचीन शास्त्रों, ऋषियों व मुनियों की मर्यादा में ऐसे निपुण

थे कि जहां उन्होंने प्रमाण देने आरम्भ किये वहां सिवाय मानने के और कोई चारा बाकी न रहता था। सुतराम् इस अवसर पर भी कृष्ण का उपदेश काम कर गया और युधिष्ठिर ने राजपाट छोड़कर त्यागी बनने के विचार को चित्त से दूर कर दिया। अन्त में रोते धोते हुए सम्बन्धियों ने भाई भतीजों निकटवर्ती प्यारों के मृतक संस्कार किये और फिर हस्तिनापुर को रवाना हुए। हस्तिनापुर में पहुँच कर युधिष्ठिर को गद्दी पर बैठाया गया। युधिष्ठिर गद्दी पर तो बैठ गया परन्तु उदास रहने लगा। फिर कृष्ण ने उसको अश्वमेध यज्ञ करने के लिये तैयार किया और अश्वमेध यज्ञ की तैयारियों में पांडवों को लगा कर स्वयं मातृभूमि द्वारिका को चले गये।

नोट—युधिष्ठिर के राज सिंहासन पर बैठने के बाद और कृष्ण के द्वारिका जाने से पहिले महाभारत में एक और घटना का उल्लेख है जिसकी सत्यता में सन्देह है। यह कथा है कि जब युधिष्ठिर राजगद्दी पर बैठे तो भीष्म पितामह भी जीवित थे। यह मालूम नहीं कि वे कुरुक्षेत्र से दिल्ली आगये थे या कि वहां ही किसी स्थान पर पड़े हुए थे परन्तु कथा इस प्रकार है कि युधिष्ठिर की राजगद्दी के पश्चात् कृष्ण युधिष्ठिर और सारे पांडवों को महाराज भीष्म के पास लेगये और इनकी प्रार्थना पर महाराज भीष्म ने युधिष्ठिर को वह उपदेश किया जो महाभारत के शान्ति और अनुशासन पर्व में लिखा है। यह उपदेश इतना लम्बा और पेचीदा है और ऐसे ऐसे कठिन विषय इसमें भरे हुए हैं कि इस बात के मानने में सङ्कोच होता है कि मरने के समय इस प्रकार के उपदेश महात्मा भीष्म ने दिये हों। तो भी किसी ऐसे महान् पुरुष से मृत्यु के समय उपदेश लेना ऐसी साधारण बात है कि इस घटना का सच्चा होना असम्भव नहीं यदि ऐसा हुआ

भी हो तो भी महाराज भीष्म के असल उपदेश पर बाद में इतनी टिप्पणियाँ चढ़ीं और इतनी मिलावट हुई कि अब यह निर्णय करना असम्भव है कि इसमें से कितना उपदेश महाराज भीष्म का है और कितना पीछे के मिलाने वालों के विचार का अंश है।

त्रयस्त्रिंशत अध्याय।

महाराज श्रीकृष्ण के जीवन का अन्तिम भाग।

महाभारत के युद्ध के पश्चात् एक बार महाराज कृष्ण फिर हस्तिनापुर में आए अर्थात् अश्वमेध के अवसर पर जिसकी तैयारियां महाभारत की लड़ाई के समाप्त होते ही आरम्भ हो गई थी। इस अवसर पर इनका आना एक ऐसी घटना के साथ सम्बन्ध रखता है जिसकी आश्चर्यजनक कथा में से सत्य का निकालना कठिन है। कथा इस प्रकार है कि जिस दिन महाराज कृष्ण हस्तिनापुर में आये उस दिन रानी उत्तरा के एक लड़का उत्पन्न हुआ जो मरा हुआ था, उत्तरा महाराज विराट की लड़की और अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु की व्याहता स्त्री थी, अभिमन्यु की मृत्यु के समय वह गर्भवती थी और चूंकि युद्ध के समाप्त होने पर द्रौपदी की सारी संतान को अश्वत्थामा ने बदले की आग में जलकर नाश कर दिया था इस कारण आगे आने वाले वंश का भरोसा उत्तरा के बच्चे पर था। जिस समय उत्तरा के पुत्र उत्पन्न हुआ और वह मरा हुआ दिखाई दिया तो तमाम महल में रोना पीटना पड़ गया सब आशायें मिट्टी में मिल गईं और चारों ओर से

रोने पीटने की आवाज सुनाई देने लगी संयोग से महाराज कृष्ण भी उसी समय नगर में आये और रोने पीटने का कोला-हल सुनकर सीधे महल को गये। अभिमन्यु कृष्ण की बहिन सुभद्रा का पुत्र था अर्थात् उत्तरा कृष्ण के अपने भांजे की रानी थी। जब स्त्रियों को पता लगा कि कृष्णजी आ गये तो उन्होंने उनको घेर लिया और बच्चे को उनके सामने डाल कर रोने लगीं। कृष्ण ने बच्चे को देखते ही कहा कि मैं इसको जिला दूँगा। सुतरां बच्चे की ओर देखकर कहने लगे कि 'हे बालक मैंने अपने जीवन में कभी झूठ नहीं बोला, न मैं कभी युद्ध से भागा बस मेरे यदि इन व्यवसायों में कुछ शक्ति है तो तू जी उठ' इत्यादि। बच्चा हिलने लगा और धीरे २ बिल-कुल अच्छा हो गया। इस बालक का नाम परिक्षित था जो बाद में पांडवों के राज का मालिक हुआ। अश्वमेध यज्ञ कुशल से समाप्त हुआ और कृष्ण महाराज फिर वापस अपने नगर को चले गये।

इस युद्ध के समाप्त होने पर, वह ३६ वर्ष तक निर्विघ्नता से द्वारिकाजी में रहे परन्तु इस समय में उनकी जाति यादव बंशियों में घमंड, राग, द्वेष मदिरा पीने इत्यादि का अभ्यास इतना बढ़ गया कि श्रीकृष्णजी के अधिकार के बाहर यादव वंशी हो गये खुल्लम खुल्ला आपस में लड़ाइयां होने लगीं इन लड़ाई झगड़ों में समस्त यादव बरबाद हो गये यहां तक कि राजवंश में से सिर्फ चार आदमी बाकी बचे अर्थात् श्री कृष्ण, बलराम, दारुक और सात्यकि।

बलराम ने इस अपार दुःख से दुखी होकर समुद्र के किनारे आकर प्राण त्याग किये और श्रीकृष्ण महाराज अपने सारथी दारुक को अर्जुन की तरफ भेज कर आप बन को चले गए और तप करने लगे जब दारुक ने अर्जुन के पास जाकर

श्रीकृष्ण-शरीरान्त पृ० सं० १४५

उस से सब समाचार कहे तो अर्जुन तुरंत द्वारिका को चले आये और कृष्ण जी के पोते बज्रनाभ को स्त्रियों सहित हस्तिनापुर को लिवा लेगये और कृष्ण जी के बपौती इलाके का राज बज्रनाभ के नाम कर दिया।

श्रीकृष्ण की मृत्यु के विषय में कहावत है कि वह योग समाधि में बैठे हुएथे कि एक शिकारी का तीर पैर में आलगा। जब शिकारी पास आया तो उसे मालूम हुआ कि उसने भूल से एक मनुष्य को अपने तीर से घायल कर दिया है और इस भूल पर वह बहुत पश्चात्ताप करने लगा परन्तु कृष्ण महाराज ने उसको धैर्य दिया। यहां तक तो एक प्रकार सम्भव घटना का वर्णन है परन्तु आगे इसी कथा का अंत इस प्रकार होता है कि उस शिकारी बधिक के देखते २ श्रीकृष्ण महाराज *आकाश में चढ़ गये जहां पर सब देवताओं ने मिलकर इनका बड़े भाव भगत से आगत स्वागत किया और इनके आगमन से प्रसन्न होकर उन्होंने बड़ा आमोद प्रमोद मनाया।

चतुस्त्रिंशत् अध्याय।

क्या कृष्ण महाराज परमेश्वर के अवतार थे।

भूमिका में हमने इस प्रश्न का उत्तर अस्वीकार सूचक देकर यह प्रण किया था कि हम जीवन चरित्र को वर्णन करके भी इस विषय पर कुछ लिखेंगे। अतएव कृष्णजी के जीवन

---

* ईसा मसीह के विषय में भी ऐसी ही दन्तकथा प्रसिद्ध है कि वह अपनी मौत से तीसरे रोज जिन्दा होकर फिर आसमान पर चढ़ गए। यदि बुद्धिमान ईसाई ईसामसीह के विषय की उक्त घटना पर विश्वास कर सकते हैं तो उन्हे इस पौराणिक वर्णन की घटना पर विश्वास करने में क्या सन्देह हो सकता है।

चरित्र का वर्णन समाप्त करके अब हम अपने प्रण को पूरा करते हैं।

क्या परमेश्वर मनुष्य शरीर धारण करता है?

परमेश्वर को मानने वाले सब आस्तिक लोग उसको सर्व-व्यापक, सर्वशक्तिमान, अजन्मा, अमर, अनादि, अनंत आदि गुणों से सम्बोधन करते हैं फिर इस अवस्था में यह बात किस तरह ठीक हो सकती है कि उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को अपने सेवकों के रक्षण-वेक्षण के हेतु नर देह धारण करने की आवश्यकता पड़े, मनुष्य देह में आने से तो वह स्वयं बंधन में पड़ जायगा और तब वह सर्वव्यापी और सर्वव्यापक नहीं रह सकता!

क्या ईश्वर का अवतार मानने वाले हमको यह बतला सकते हैं कि जिस समय श्रीकृष्ण महाराज के शरीर में परमात्मा ने अवतार लिया था उस समय सारे संसार का शासन कौन करता था, जब श्रीकृष्ण कौरवों से लड़ते थे, शिशुपाल से झगड़ते थे, जरासन्ध से भागते फिरते थे उस समय संसार का प्रबंध किसके हाथ में था और किस तरह चल रहा था? तात्पर्य यह है कि बुद्धि तो इस बात को कदापि स्वीकार नहीं कर सकती कि इस सृष्टि का स्वामी और बनाने वाला परमात्मा कभी नरदेह में आता है उसका तो यही गुण है कि वह संसार के सारे प्रपञ्चों से परे है यह शरीर तो उसके बनाये हुए हैं। मनुष्य जिसके कार्य-कौशलों को स्वयं नहीं समझ सकता, उसके विषय में यह उक्ति गढ़ लेता है कि वह परमेश्वर ही इस भद्दी सी निकम्मी बलहीन और बंधनयुक्त, मनुष्य देह में आता है ताकि हमें अपने उदाहरणों से बतला सकें कि किस प्रकार से जीवन व्यतीत करना चाहिये, अनुचित है।

उस परमात्मा के विषय में ऐसा सोचना वास्तव में उसके ईश्वरत्व को अस्वीकार करना है मनुष्य को ईश्वर का पद देना या ईश्वर को गिरा कर मनुष्य के पद पर पहुँचा देना बड़ा भारी अपराध है। और हमें खेद है कि हमारी जाति के लोग इस बुनियाद पर इतना भरोसा रखते हैं और बिना अवतारों के मानने के धर्म शिक्षा का होना भी विचार में नहीं ला सकते, यद्यपि यह विषय बहुत आवश्यक और मनोरंजक है और वादानुवाद करने को भी जी चाहता है, परंतु लेख के बढ़ जाने का विचार रोकता है, दूसरे इस विषय पर वादानुवाद करना इस पुस्तक के उद्देशों से बाहर है, अस्तु केवल इतना कहकर सन्तोष करते हैं कि वेदों और उपनिषदों में परमात्मा को "अज" (अजन्मा) अमर, अविनाशी और अकाय इत्यादि कहा है। यदि हम यह मान लें कि परमात्मा स्वयं भी देह धारण करता है तो उपरोक्त सभी गुण व्यर्थ हो जाते हैं।

अवतारों से अभिप्राय महापुरुषों से है।

निसन्देह अवतारों से अभिप्राय यदि ऐसे महापुरुषों से है जिनकी शिक्षा दीक्षा से एवं जिनकी जीवन प्रणाली से दूसरे मनुष्य अपने जीवन को उत्तम बना सकते हैं और इस संसार रूपी समुद्र में से तैर कर पार हो जाते हैं, तो कोई हानि नहीं, इस बात से कौन हट सकता है कि संसार में समय समय पर ऐसे लोगों की अत्यन्त आवश्यकता पड़ती है और ऐसे लोग समय समय पर जन्म भी लेते हैं जिनकी शिक्षा दीक्षा आदेश और उपदेशों से तथा जिनके जीवन की पवित्रता से दूसरे लोग लाभ उठाते हैं और जीवन के इस तूफान भरे समुद्र में भूलों भटकों और भंवर में पड़ी हुई किश्तियों के लिये मल्लाह का काम करते हैं और बहुत से निराश, हतोत्साह अशान्त और

व्याकुल आत्माओं को शान्ति देते हैं। ऐसे लोग संसार की प्रत्येक जाति में उत्पन्न होते हैं और वह उन मुक्त आत्माओं की श्रेणी में से आते हैं जिनको अपनी उच्च आत्मिक शक्ति से दूसरे मनुष्यों के मुकाबिले में परमात्मा की निकटता प्राप्त होती है, यह ईश्वरीय शक्ति कितनी ही अधिक क्यों न हो फिर भी ईश्वर ईश्वर ही है और मनुष्य २ ही हैं, मनुष्य कभी ईश्वर नहीं हो सकता। और न आत्मा परमात्मा के पद को प्राप्त हो सकता है।

हमारा विश्वास है कि यह सब पूर्व पुरुष ईश्वर के उस नियम को फैलाने, समझाने व प्रचार करने के लिये जन्म लेते हैं जो ईश्वर ने सृष्टि के आदि में अपने जनों के कल्याण के लिये अपना ज्ञान दिया था और जिनको संस्कृत भाषा में वेद कहते हैं, अतः यदि कृष्ण महाराज को इस सिद्धान्त से अवतार कहा जाय तो कोई हानि नहीं।

क्या कृष्णजी ने स्वयं कभी परमेश्वर के अवतार होने का दावा किया।

श्रीकृष्णजी के जीवन की जो घटनायें हमने पहले पृष्ठों में वर्णन की हैं उनसे यही प्रमाणित होता है कि कृष्णजी ने स्वयं कभी अवतार होने का दावा नहीं किया। भगवद्गीता के अतिरिक्त महाभारत के और किसी हिस्से में ऐसे दावे का प्रमाण नहीं मिलता। भगवद्गीता श्रीकृष्णजी की बनाई हुई नहीं है इसलिये भगवद्गीता का प्रमाण इस विषय को पूर्ण रूप से पुष्ट नहीं कर सकता, परन्तु यदि आप प्रश्न करें कि भगवद्गीता के बनानेवालेने क्यों ऐसी युक्ति बांधी जिससे यह परिणाम निकले कि कृष्ण महाराज अपने आपको अवतार समझते थे! तो उसका उत्तर यह है कि अपने कथन को विशेष

माननीय और प्रामाणिक बनाने के लिये उसने ऐसा किया। भगवद्गीता का वह भाग जिसमें कृष्णजी अपने को परमात्मा या परमात्मा का अवतार मान कर उपदेश करते हैं, वह प्रगट करता है कि गीता स्वयं एक प्राचीन पुस्तक नहीं है क्योंकि वैदिक साहित्य में जिसमें ब्राह्मण उपनिषद् और सूत्रादि भी शामिल हैं, उसमें इस प्रकार के बहुत कम प्रमाण हैं जिस में उपदेश करने वाले को ऐसा पद दिया गया हो। जहां तक हमने छानबीन करके मालूम किया है उपनिषदों में केवल एक ऋषि के वचनों में इस तरह का वर्णन पाया जाता है और वह भी ऐसा स्पष्ट और बहुतायत से नहीं जैसा कि भगवद्गीता में भगवद्गीता का क्रम प्रगट करता है कि भिन्न २ समय के पंडितों की रचना से यह पुस्तक खाली नहीं है। चूंकि हम गीता की उर्दू टीका प्रकाशित करने की इच्छा रखते हैं इस लिये उस पुस्तक में इस विषय पर अधिक विस्तार से बहस करेंगे। सुतराम् यह निश्चित है कि गीता कृष्णजी की बनाई हुई नहीं है, बस गीता के प्रमाण पर कोई मनुष्य नहीं कह सकता कि कृष्ण महाराज स्वयं अवतार होने के दावेदार थे।

क्या उनके समकालीन लोग उन्हें ईश्वर का अवतार समझते थे।

युधिष्ठिर, भीष्म, अर्जुन, द्रोण, दुर्योधन जरासिन्ध और अन्य समकालीन का महाराज कृष्ण से व्यवहार भी यही प्रकट करता है कि उनमें से कोई भी महाराज कृष्ण को परमेश्वर का अवतार नहीं समझते थे। यह लोग कृष्ण महाराज को केवल मनुष्य समझ कर उनसे वैसा ही बर्ताव करते रहे, यदि युधिष्ठिर कृष्ण को परमेश्वर का अवतार मानते होते तो उनको जरासंध के मुक़ाबिले में भेजने से कदापि संकोच न करते।

यद्यपि महाभारत का रचयिता स्पष्ट लिखता है कि महाराज युधिष्ठिर ने कृष्णजी की प्रार्थना को बड़े संकोच से स्वीकार किया और जरासिंध और शिशुपाल आदि कृष्णजी को परमेश्वर का अवतार समझते होते तो वे बैर कदापि न करते। भीष्म और द्रोण भी कभी उनके सामने लड़ने को न खड़े होते आश्चर्य तो यह है कि गीता वाले उपदेश सुनने के बाद भी अर्जुन पूरे दिल से भीष्म और द्रोण के विरुद्ध नहीं लड़ा। तब श्रीकृष्णजी को विराट रूप धारण कर के अर्जुन को उभारने की आवश्यकता पड़ी। यदि वर्तमान प्रस्तुत महाभारत को सही मान लिया जाय तो उसके अनुसार अर्जुन ने कृष्ण और भीष्म की इस सलाह को भी स्वीकार नहीं किया कि युधिष्ठिर द्रोण को हतोत्साह करने के लिये यह प्रसिद्ध करें कि अश्वत्थामा मर गया। परन्तु अर्जुन ने इस प्रकार की धोखे बाजी पर बहुत घृणा प्रगट की थी, तात्पर्य यह कि उन घटनाओं से यही प्रमाणित होता है कि कृष्ण महाराज के समकालीन सखा लोग भी उनको परमेश्वर का अवतार नहीं समझते थे।

क्या कृष्ण महाराज धर्म-सुधारक थे ?

यही नहीं हम को तो यह भी निश्चय नहीं होता कि धर्म उपदेश या धर्म प्रचार करना कभी श्रीकृष्ण महाराज ने अपना उद्देश्य बनाया हो। प्रथम तो उनका राजवंश में जन्म लेना ही यह प्रकाशित करता है कि ये धर्म उपदेशक या धर्मप्रचारक कदापि न थे। यह ठीक है कि उस समय राजऋषि का पद बहुत प्रतिष्ठित समझा जाता था और राजऋषि भी आचार्य्य होते थे तो भी ब्रह्मऋषिकी पदवी सर्वश्रेष्ठ थी। जैसा कि विश्वामित्र और वशिष्ठ के उपाख्यानों से विदित होता है। दूसरी कोई कहावत या पुराण हमको यह नहीं बताते कि

अर्जुन या युधिष्ठिर को उपदेश करने के सिवाय उन्होंने कभी सर्व साधारण में धर्म प्रचार की चेष्टा की हो। असल बात तो यह है कि धर्म प्रचार उनका लक्ष्य ही न था। वह जन्म से और स्वभाव से पूरे क्षत्रिय थे इसलिये यथा आवश्यक उन्होंने अपने क्षत्रिय भाइयों पर अपने धार्मिक विचार प्रगट किये। समय समय पर युधिष्ठिर और अर्जुन के हतोत्साह होने से कृष्ण महाराज से क्षात्रधर्म की व्याख्या कराई और इस अवस्था में धर्म के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा वह सब लोकहित साधन के लिये कहा। इसके अतिरिक्त और कभी भी न तो उन्होंने धर्म उपदेश दिया और न धर्म प्रचार करने की चेष्टा की, न उन्होंने धर्म विषयपर कोई ग्रन्थ लिखा न कभी शास्त्रार्थ किया जैसा कि उपनिषदों में जनक महाराज के नाम से प्रसिद्ध है। कृष्ण महाराज ने अपने सखाओं को जो कुछ धर्म उपदेश किया वह समयानुसार आवश्यक जानकर किया। इसलिये हमारा विचार है कि गीता का सब उपदेश उनके सिर मढ़ना उचित नहीं है। भला लड़ाई के समय में ऐसी लम्बी, युक्तिपूर्ण, सूक्ष्म, फ़िलासफ़ी (वेदान्त) छांटने का कौनसा अवसर था। मतलब तो केवल इतना था कि अर्जुन को लड़ाई के लिये उत्साहित किया जाय और यह मतलब उतने में ही पूरा हो जाता है जितना कि दूसरे अध्याय में लिखा है।

बस इससे अधिक जो है वह पीछे के पंडितों की मिलावट है। गीता के १८ अध्याय के लेख को देखने से मालूम हो जावेगा कि कई एक विचारों को प्रत्येक अध्याय में दोहराया गया है। कृष्ण जी के उपदेश का वह भाग जिसके द्वारा अर्जुन को लड़ने के लिये उत्साहित किया गया था सम्भवतः उन सब अध्यायों में उन्हीं शब्दों में मौजूद है। यद्यपि हर एक अध्यायों का वर्णन अलग अलग है। अस्तु हमारी राय में

भगवद्गीता में कृष्ण महाराज का उपदेश केवल इतना ही है जितना कि सब अध्यायों मे पाया जाता है और शेष उक्तियां दूसरे विद्वानों द्वारा बढ़ाई गई हैं। इस विवाद से यह भी परिणाम निकलता है कि गीता एक ही लेखक की लिखी हुई नहीं है और न उन वेदव्यास जी कृत हो सकती है जो वेदांत दर्शन के बनाने वाले माने जाते हैं। यह कदापि संभव नहीं है कि व्यास जैसा दर्शन का ज्ञाता पुरुष एक ही विचार को बार बार दुहराता जितनी बार गीता में दोहराया गया है। दर्शनकारों की श्रेष्ठता यही है कि उन्होंने बड़ी से बड़ी और कठिन से कठिन युक्तियों को सरल और संक्षिप्त शब्दों में वर्णवद्ध कर दिया यानी बड़े २ मोतियों को बारीक धागे में पिरो कर रख दिया। परन्तु गीता का क्रम और गीता की लेख प्रणाली और काव्य श्रेणी बिलकुल इसके विरुद्ध है। कोई कोई योरोपियन विद्वान् तो इससे यह परिणाम निकालते हैं कि गीता दार्शनिक समय से पहले की बनी हुई है यानी उस समय की है जिसमें दर्शनों की भांति क्रमबद्धता और वैज्ञानिक युक्तियां आर्य्यों में जारी नहीं हुई थीं पर मेरी समझ में यह विचार ठीक नहीं है क्योंकि गीता के लेख से यह प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है कि समस्त दर्शनों का मर्माशय मनुष्य को एक ही मतलब पर पहुँचाता है। गीता से हमको वह शिक्षा मिलती है कि ज्ञान से कर्म से, ध्यान से, भक्ति से और योग से किस तरह मुक्ति मिलती है। गीता में भिन्न २ साधनों के परस्पर सम्बन्ध प्रगट करके उनका अंतिम परिणाम एक ही बतलाया गया है अर्थात् ईश्वर प्राप्ति।

मेरे इस बाद विवाद से आप यह परिणाम न निकाललें कि मैं अपनी सम्मति के बेग में गीता का छिद्रान्वेषण करता हूँ। हा! हा!! मैं तो अपने को इन विद्वानों के चरण रज के तुल्य

भी नहीं समझता जिन्हों ने गीता बनाई, मैं तो शायद कई जन्मों में उनकी युक्तियों के मर्म को नहीं समझ सकता हूँ, मैं उनकी विद्वत्ता और ज्ञान के सम्मुख प्रसन्नता पूर्वक सिर झुकाता हूँ। परन्तु फिर भी यह कहने से नहीं रुक सकता कि गीता मुझे एक ही विद्वान् की कृति नहीं मालूम होती। गीता रचने वालों का मतलब दर्शन शास्त्र की रचना से न था वरन् मनुष्य मात्र के नित्यप्रति के व्यवहारों के लिये ऐसे उपदेश संग्रह करने का था जिसमें दर्शनों का निचोड़ ऐसी तरह से आजावे कि उसका समझना कठिन न हो। निदान इस निचोड़ का उन्होंने जिस उत्तमता से संग्रह किया उससे उनकी अद्वितीय बुद्धिमत्ता का परिचय मिलता है।

यदि ग्लेडस्टोन वो टिण्डल वकीलों जैसे विद्वान् अपने धर्मग्रन्थ इंजील को ईश्वरीय बचन और मसीह को ईश्वर का पुत्र बलिक स्वयं उसको ईश्वर मान सकते हैं तो इस में क्या आश्चर्य है कि गीता के भिन्न २ लेखकों में से किसी २ ने कृष्ण महाराज को अवतार की पदवी दी, चाहे वह इस अभिप्राय से हो कि जो कुछ वह उपदेश करना चाहते थे उसका आदर बढ़ जावे और वह सर्वथा प्रामाणिक बचन माना जाय और चाहे वह वास्तव में कृष्ण महाराज को अवतार ही मानते थे। क्या यह आश्चर्य नहीं है कि गीता के अतिरिक्त और किसी प्राचीन पुस्तक या आर्षग्रन्थ में न तो साधारणतः अवतारों का वर्णन है और न कृष्ण महाराज के अवतार होने का, क्योंकि पुराणों के विषय में तो हम भूमिका में प्रमाणित कर चुके हैं कि वह वर्तमान समय के कुछ ही पहले के बने हुए हैं इस लिये केवल उनके प्रमाण पर नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन आर्य्य लोग परमेश्वर को अवतार मानते थे या कृष्ण महाराज को ऐसा मानते थे।

पञ्चत्रिंशत अध्याय ।

कृष्णइज़म अर्थात् कृष्ण महाराज की शिक्षा ।

यह शब्द उन अंग्रेजी पढ़े लिखे हिन्दुओं की गढ़ंत है जो अंगरेज़ी शिक्षा पाकर भी पौराणिक हिन्दूमत के उस भाग को मानते हैं जिसको हिन्दुओं की बोल चाल में वैष्णव धर्म कहा जाता है। शायद सारे संस्कृत साहित्य में कोई शब्द ऐसा न मिलेगा जो ईसाई मत और मुहम्मदी मत और बौद्ध धर्म की तरह श्रीकृष्ण के नाम के साथ किसी मत या धर्म का सम्बन्ध सूचित करता हो। अंगरेज़ी जानने वाले कृष्ण भक्तों ने संस्कृत साहित्य की इस कमी को पूरा करने की कोशिश में कृष्ण के नाम पर एक मत की नींव डाली है जिसको वह कृष्णइज़म कह कर पुकारते हैं। परन्तु संस्कृत साहित्य के साधारण अन्वेषण से तो यही ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण ने किसी मत की नींव डालने का साहस नहीं किया और न उन्होंने किसी ऐसे धर्म की शिक्षा दी है जो उचित रीति से उनके ही नाम से जगत् प्रसिद्ध हो। हज़रत ईसा, हज़रत मुहम्मद और महात्मा बुद्ध इन तीनों महापुरुषों ने एक नवीन धर्म की नींव डाली और इसलिये उनके मत या धर्म उनके नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। यद्यपि अर्वाचीन समय के बहुतेरे हिन्दू सम्प्रदाय भी इसी प्रकार किसी किसी महापुरुषों के नाम पर प्रसिद्ध हैं परन्तु प्राचीन संस्कृत साहित्य में इस तरह का कोई प्रमाण नहीं है। और कृष्ण के समय के साहित्य में तो इस प्रकार का नाम निशान ही नहीं है। प्राचीन हिन्दू मत में यही तो एक बड़ी विलक्षणता है कि उसकी नींव किसी मनुष्य की शिक्षा दीक्षा के आधार पर नहीं डाली गयी है।

यदि सच पूछो तो प्राचीन हिन्दू साहित्य संसार में धार्मिक

तत्व का आत्मा स्वरूप है, यह साहित्य इस प्रकार के अमूल्य धार्मिक तत्वों से परिपूर्ण है, कि इसके समान उच्च विचार दुनियाँ के और किसी साहित्य में दिखाई नहीं देते और इसपर भी तुर्रा यह कि इन विचारों के प्रगट करनेवाले महापुरुषों ने अपने नाम का कोई भी चिन्ह नहीं छोड़ा जिससे आप यह निश्चित कर सकें कि यह विचार और यह शिक्षा अमुक महा-पुरुष की थी, हमारे महापुरुषों में से किसी ने नवीन शिक्षा देने की चेष्टा नहीं की किन्तु सब के सब अपने आपको वेदोक्त ब्रह्म-विद्या का अनुयायी बतलाते रहे। किसी ने नाम मात्र के लिये भी ऐसा साहस नहीं किया कि यह विचार मेरे हैं और मैं इनको फैलाने के लिये संसार में आया हूँ। मेरे पहले यह विचार किसी के ध्यान में न आये थे या मुझे विशेष रूप से यह ज्ञान स्वयं प्राप्त हुआ है। कभी किसी ने कोई नवीन मत प्रचार करने का विचार नहीं प्रगट किया। उपनिषदों व ब्राह्मणों का समस्त क्रम हमारे इस कथन का साक्षी है। उपनिषदों की अद्वितीय धार्मिक शिक्षा के तत्वों से यह कदापि लक्ष्य में नहीं आता कि इस शिक्षा का आचार्य्य कौन था और इन अमूल्य उक्तियों के लिये वे किस महापुरुष के चिर-बाधित ऋणी हैं। कहीं कहीं इतिहास इत्यादि में ऋषियों मुनियों वा आचार्यों के नाम आते हैं परन्तु उनके वर्णन में क्रम से यह भी मालूम होता है कि एक ही नाम के बहुत से ऋषि हो चुके हैं—जैसे कि आज हमारे लिये यह निश्चित करना असंभव है कि वर्तमान मनुस्मृति कौन से मनु महाराज की रचना है। प्राचीन आर्य्य लोग परमेश्वर को ही आदि गुरु और सच्चा उपदेशक मानते थे और इसलिये उन्होंने कभी इस बात की चेष्टा नहीं की कि वे अपने नाम से कोई धर्म प्रचलित करें। उनके लेखों से टपकता है कि इस प्रकार की कार्यवाही को ये अधर्म और पाप समझते थे। धर्म

चर्चा तथा धार्मिक विचार और वादानुवाद करना तो वे उचित समझते थे परन्तु अपने नाम से किसी नवीन धर्म का प्रचार करना या कोई नवीन शिक्षा देना उनके विचार से सर्वथा अनुचित था।

प्राचीन हिंदुओं के सब आचार्य ऋषि या मुनि जो कुछ शिक्षा देते थे उसको वे अपने पूर्व पुरुषों वेद या शास्त्रों का आदेश बतलाते थे अपनी तरफ से कोई नवीन शिक्षा देने का साहस उन्होंने कदापि नहीं किया बस वर्तमान समय में हमारी तरफ से यह प्रयत्न हुआ कि हम उनमें किसी एक को चुनकर उसी के नाम से किसी मत को जारी कर दें। यह साक्षात् उनके महत्व को कम करना है। इस पर भी तुर्रा यह है कि हमारी यह कार्यवाही एक ऐसे वीर क्षत्री राजपुत्र के साथ सम्बन्ध रक्खे जिसने कभी भी धर्म प्रचार की चेष्टा नहीं की। हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि कभी कृष्ण महाराज ने सर्व साधारण को धार्मिक शिक्षा देने की चेष्टा की हो। तब कृष्ण महाराज को किसी धर्म का व्यवस्थापक मानना व्यर्थ है हम बतलाना चाहते हैं कि भगवद्गीता की सब युक्तियों को कृष्ण महाराज की शिक्षा समझना उचित नहीं परन्तु विचार के लिये यदि ऐसा मान भी लिया जावे तो भी परिणाम तो यही निकलता है कि उन्होंने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिये वह उपदेश किया जो गीता में है। यदि उसी उपदेश के कारण कृष्ण महाराज एक धर्म विशेष के व्यवस्थापक माने जा सकते हैं तो क्या कारण है कि भीष्म महाराज को भी वही पदवी न दी जावे। जिनके उपदेश कृष्ण महाराज के उपदेशों से गूढ़ता, विद्वता व सत्यता व तत्वपूर्णता में किसी प्रकार कम नहीं हैं? क्या कोई हमको बतला सकता है कि भगवद्गीता में कौनसी ऐसी शिक्षा है जो

उससे पहले के बने हुए उपनिषदों और ब्राह्मणों में उपस्थित नहीं है या जो वेदों में भी पाई नहीं जाती तब वह कौन सी शिक्षा है जिसे हम कृष्णइज़म के नाम से प्रसिद्ध करें। सिवाय इसके कि हम उन बातों को कृष्णइजम कहें जो श्रीमद्‌भागवत् या ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों म भरी हुई हैं और जिससे कृष्ण महाराज का पवित्र जीवन कलंकित किया जाता है। लेकिन श्री मद्‌भागवत् की शिक्षा को कृष्ण इज़म के नाम से सम्बोधन करने से तो कृष्ण महाराज का कुछ यश होगा। पर हमारे विचार में तो श्री मद्भागवत् की शिक्षाओं को कृष्ण महाराज के सर मढ़ना सर्वथा अनुचित है क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों से यह कदापि प्रमाणित नहीं होता कि कृष्ण महाराज ने कभी ऐसी शिक्षा दी हो जैसी कि श्रीमद्‌भागवत् में पाई जाती है।

स्पष्ट तो यह है कि हमारे विचार में कृष्ण महाराज ने कोई ऐसा मत नहीं चलाया जिसको हम उनके नाम से प्रसिद्ध करें और इसलिये कृष्णइजम शब्द का प्रयोग ही अशुद्ध और अनुचित है अथवा यदि कृष्णइजम से उन्हीं उपदेशों से अभिप्राय है जो कृष्ण महाराज ने अर्जुन तथा अपने दूसरे सम्बन्धियों को यथा आवश्यक समय समय पर दिये और जिनमें प्राचीन वेद ग्रन्थों की निष्काम फ़िलासफ़ी पर ज़ोर दिया गया है तो कुछ हानि नहीं है क्योंकि कृष्ण नाम किसी विशेष धर्म का नहीं है जिसे कृष्ण महाराज ने चलाया हो परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि निष्काम धर्म प्रभावोत्पादक उपदेश कृष्ण महाराज के वाक्य में मिलता है वैसा और किसी ऋषिमुनि के उपदेश में नहीं मिलता भगवद्-गीता के पृथक पृथक अध्याय यद्यपि भिन्न २ विषयों पर छापे हुए हैं। परन्तु सब का सारांश एक मात्र निष्काम धर्म की शिक्षा है। महाभारत में भी कृष्ण महाराज के भिन्न २ वाक्यों

में निष्काम धर्म सबसे प्रधान है उनकी प्रत्येक बात का मर्मा- शय यही है। भिन्न २ रीतियों से भिन्न २ प्रणाली में धर्म के भिन्न २ अङ्गों की व्याख्या करते हुए प्रायः प्रत्येक युक्ति का अंत निष्काम धर्म की प्रधानता पर होता है। भगवद्गीता के अक्षर २ में निष्काम धर्म का राग अलापा गया है न केवल उनके वचनों में परञ्च उनके कर्म और उनके व्यवहार में भी इस शिक्षा का असर दिखाई देता है, जिससे हम यह कह सकते हैं कि भूठ त्याग और वैराग का खण्डन करते हुए निष्काम धर्म की प्रधानता को फैलाना और निष्काम फ़िला- सफ़ी की व्याख्या करना यही ख़ास तौर पर कृष्ण महाराज के जीवन का उद्देश्य था और यही हमको उनके वचनों में जगह जगह भरा हुआ दिखाई देता है। जहां कहीं कभी जब उनको धार्मिक व्यवस्था देने की आवश्यकता पड़ी तो उन्होंने इसे सिद्धान्त बनाकर उसी के अनुसार अपना न्याय किया। इस शिक्षा का अनुकरण करना ही उन्होंने मनुष्य मात्र के जीवन का उद्देश ठहराया। और इसी पर कार्य करने के लिये वह उन सब लोगों की प्रेरणा करते थे जिनका कि किसी न किसी प्रकार का उनसे सम्बन्ध रहा। मित्रों की संगति में सम्बन्धी व रिश्तेदारों के व्यवहारों में, अपने सेवकों तथा भक्तजनों के प्रश्नों के उत्तर में, राजसभाओं में यज्ञादि तथा अन्यान्य धार्मिक कार्य के समयों और शत्रुओं से युद्धके समय तात्पर्य यह कि जीवन की घटनाओं के प्रत्येक समय पर और हर बात पर उन्होंने इसी शिक्षा को अपना प्रधान लक्ष्य नियत कर लिया था और अंत में भी मृत्यु समय जिस वधिक के बाण से वे घायल हुये उसे भी इसी निष्काम धर्म का उपदेश करते हुए स्वर्ग को पधारे।

पाठको! अब हम आप को संक्षेप से यह बतलाना चाहते

हैं कि कृष्णमहाराज की सम्पूर्ण शिक्षा का सारांश हमको भगवद्गीता के दूसरे अध्याय तथा महाभारत के सम्मिलित श्लोकों में प्राप्त होते हैं। कृष्णमहाराज को शिक्षा के अनुसार मनुष्य जीवन का मुख्य उद्देश्य भगवद्गीता अध्याय दूसरे में किया गया है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ ६४॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसोह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठति॥ ६५॥

अर्थ—जो मनुष्य इन्द्रियों को वश में करके राग द्वेष रहित हो इन्द्रियों के विषय (१) आचरण करता है और इस लिये शुद्ध अन्तःकरण रखता है वही प्रसाद अर्थात् आनन्द को प्राप्त हो सकता है॥ ६४॥

अर्थ—इसी आनंद में सब दुःखों का नाश होजाता है अर्थात् सब दुःख दूर होजाते हैं अस्तु स्थिर बुद्धि वही मनुष्य है जिसका मन आनन्द से परिपूर्ण है॥ ६५॥

प्रश्न—स्थिर बुद्धि होने का क्या फल है।

उत्तर—परम पद की प्राप्ति अर्थात् मुक्ति।

कर्मजं बुद्धियुक्ताहि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ता पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ १५॥

अर्थ—मुनि लोग बुद्धि योग को प्राप्त करके कर्मों के फलों को यहां ही त्याग देते हैं और जन्म के बंधनों से मुक्त होकर उस पद को प्राप्त करते हैं जिसमें कोई व्याधि नहीं अर्थात् अमृतमय मोक्ष को प्राप्त करते हैं॥ १५॥

नोट—(१) इन्द्रियों के विषय में आचरण करने से तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों से वह काम लेता है जिस काम करने के लिये प्रकृति ने उनको बनाया है जैसे आँख से देखना कान से सुनना नाक से सूँघना इत्यादि २।

इसलिये कृष्ण महाराज का वचन है कि—

योगस्थः कुरु कर्म्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वासमत्वंयोग उच्यते ॥ ४८ ॥

अर्थ—हे धनंजय (अर्जुन) ईश्वरीय इच्छा में योग करता हुआ तू राग को त्याग कर सिद्धि और असिद्धि को एक सा जान कर तू कर्मों को कर क्योंकि इसी समता का नाम योग है ॥ ४८ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फलहेतुर्भूर्मति संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

अर्थ—न तुझे कर्मों से मतलब है न उनके फलों से अस्तु कर्मों के फल को अपना उद्देश मत बना और न अकर्म अवस्था से दिल लगा (अर्थात् न दिल में यही ठान ले कि कर्म नहीं करना चाहिये) हे अर्जुन न सुख दुख हानि लाभ और हार जीत को एक सा समझ कर लड़ाई के लिये कमर बांज क्योंकि उसी से तू पाप से बच सकता है ॥ ४७ ॥

सुख दुःखे समं कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

तीसरे अध्याय के ८ वें श्लोक में फिर यही बात दोहराई गयी है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायोह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

अर्थ—अस्तु तू सत्य कर्म कर क्योंकि कर्म करना अकर्म से कहीं उत्तम है बिना कर्म किये तो शरीर यात्रा भी नहीं हो सकती ॥ ८ ॥

श्लोक १५ में बतलाते हैं कि यह कर्म किस तरह जाना जाता है।

कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।

तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

अर्थ—कर्म वेद से जाना जाता है और वेद उस अनादि परमेश्वर के बनाये हुए हैं ॥ १५ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

अर्थ—समस्त कर्मों को परमात्मा के आधीन करके और इसी पर अपने सब विचारों को निर्भर रखते हुए आशा और आत्माभिमान को छोड़कर और इस विचार के संताप से मुक्ति पाकर तू युद्ध करने पर कटिबद्ध हो। चौथे अध्याय में भी इसी तरह कर्म और अकर्म उचित और अनुचित कर्मों की फिलासफी वर्णन की है।

पाँचवें अध्याय के श्लोक में फिर यही उपदेश आता है कि:—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसि ॥ १० ॥

अर्थ—जो सब कर्मों को ब्रह्मपरायण करके बिना मोह के कर्म करता है वह पाप में नहीं फंसता जैसा कि कमल के पत्ते पर पानी का कोई चिन्ह नहीं होता।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगंत्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

अर्थ—मोह को छोड़कर शरीर से, मन से, बुद्धि से और इन्द्रियों से भी योगी अपनी आत्म शुद्धि के लिये कर्म करते हैं छठवें अध्याय के पहले श्लोक में तो बिलकुल साफ तौर पर लिख दिया है कि—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १२ ॥

अर्थ—सन्यासी और योगी वही है जो कर्मों के फल की परवाह न करता हुआ कर्म को कर्त्तव्य समझ कर करता है

न कि वह जो कभी आग नहीं जलाता और कुछ कर्म नहीं करता। श्लोक १६ में फिर कहा है किः—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः।
नचातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

अर्थ—हे अर्जुन योग उसके लिए नहीं है जो अधिक खाता है या जो बहुत ही कम खाता है और न उसके वास्ते है जो बहुत सोता है या बहुत जागता है।

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

अर्थ—बल्कि दुख नाश कर देने वाला योग उसके लिये है जो नियम से खाता है नियम से सोता है और जागता है और नियम से सब काम करता है।

नवें अध्याय के २७ वें श्लोक में फिर लिखा है।

मत्करोषियदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २० ॥

अर्थ—सब कर्मों को ईश्वर परायण करने का उपदेश किया है, हे कुन्तीपुत्र जो कुछ तू करे, जो कुछ तू खाये, जो कुछ तू भेंट करे, जो कुछ तू दान करे, अथवा जो तू तप करे सब कुछ मेरे अर्पण कर।

सोलहवें अध्याय में फिर इसी मज़मून को और भी साफ कर दिया है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो पुरुष शास्त्रों की आज्ञा उल्लंघन कर अपनी इच्छानुसार आचरण करता है उसको न सिद्धि प्राप्ति होती है न सुख और न सच्चा मार्ग मिलता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणंते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

अर्थ—इसलिये उचित है कि शास्त्रों के प्रमाण से यह निश्चय किया जावे कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये शास्त्र विधि को जानकर ही इस संसार में कर्म करना चाहिये।

अध्याय १७ और १८ में कर्मकाण्ड की फिलासफी को और अधिक विस्तार से वर्णन किया है। तात्पर्य यह कि इस विषय में सारी गीता का तत्व यही है जो निम्न लिखित प्रमाणों में पाया जाता है। और जब हम यह विचार करते हैं कि इन सारे उपदेशों से असल मतलब भी यही था कि अर्जुन को लड़ाई पर कटिबद्ध किया जावे तो हमारा यह विचार अंतिम सीमा पर पहुँच जाता है कि वास्तव में यही वह उपदेश है जो कृष्ण महाराज ने कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को किया। सम्भव है कि इसकी व्याख्या में धर्म के अन्यान्य अंग भी किसी प्रकार वर्णन किये गये हों परन्तु यह विचार में नहीं आ सकता कि गीताकी सारी फिलासफी की उस समय शिक्षा दी गई हो।

महाभारत में भी जहां २ कृष्णजी को वार्तालाप करने का अवसर मिला है वहां भी उन्होंने इस रीति से अपनी युक्तियों को वर्णन किया है। महाभारत का युद्ध समाप्त होने के पश्चात् जब युधिष्ठिर ने राजपाट छोड़कर जंगल को जाने की इच्छा की तो फिर कृष्ण महाराज उसी उपदेश से युधिष्ठिर को प्रवृत्ति मार्ग पर लाये यहां तक कि उन्हें अश्वमेध यज्ञ करने को उत्साहित किया। युधिष्ठिर को समझाते हुए कृष्ण जी ने कहा—हे युधिष्ठिर यद्यपि तुमने बाहरी शत्रुओं को मार लिया है परन्तु अब समय आ गया कि तुम उस लड़ाई के लिये तैयार हो जाओ जो प्रत्येक पुरुष को अकेले ही लड़ना पड़ता है। अर्थात् अपने मन से इस अपार और अथाह मनकी महिमा पाने के लिये कर्म और ध्यान के हथियार वर्त्तने पड़ेंगे

क्योंकि इस लड़ाई में लोहे के हथियार काम न देंगे और न मित्र या सेवक ही कुछ सहायता कर सकेंगे। यह लड़ाई तो अकेले ही लड़नी पड़ेगी और इसमें यदि तुम उत्तीर्ण न हुए तो तुम्हारा बुरा हाल होगा।

फिर आगे कहते हैं कि—

राजपाट इत्यादि वाह्य पदार्थों के त्याग से मुक्ति न होगी परन्तु उन चीजों के छोड़ने से जो तुम को शरीर के साथ बाँधती हैं। वह पुन्य और सुख हमारे शत्रुओं के ही भाग्य में रहे, जो लोग पदार्थों का त्याग तो करते हैं परन्तु भीतरी इच्छाओं और निर्बलताओं में फंसे रहते हैं उनको प्राप्त होता है, असल मृत्यु इसी का नाम है कि मनुष्य दुनियावी पदार्थों में लिप्त हुआ मेरी और तेरी की पहिचान में ही गुथा न रहे। वह पुरुष दुनियां की क्या परवाह करता है जो सब पृथ्वी का चक्रवर्ती राज रखता हुआ भी उसके मनमें मोह नहीं है और न इसके भोग में ही मोहित होता है परन्तु वह पुरुष जो दुनियां को त्याग कर जङ्गल में साधु वेष बनाकर जंगली कंद मूल का भोजन करता हुआ फिर भी दुनियावी पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा रखता और इनकी ओर दिल लगावे वह तो मानो मृत्यु को हर वक्त अपने मुंह में ही लिये फिरता है। इसलिये तुमको उचित नहीं कि अपने कर्त्तव्य को पूर्ण रीति से काबू किये बिना त्याग का विचार बाँधे क्योंकि असल त्याग इसी में है कि मनुष्य का मन इसके वश में हो और अपनी सब इच्छाओं पर उसका पूर्ण अधिकार हो ऐसा पुरुष संसार में रहता हुआ राज करता हुआ भी पूरा त्यागी और अपने दिल का बादशाह है।

वाह! क्या शब्द हैं। शब्द हैं या मोती हैं जिनका रूप रंग और जिनकी चमक दमक के सामने अच्छी से अच्छी

और तीव्र से तीव्र दृष्टि वाली आँख नहीं ठहर सकती। नहीं नहीं मोती नहीं! मोती तो मिट्टी है। उनसे न तो भूखे की भूख मिट सकती है न प्यासे की प्यास बुझ सकती है। न शोकाकुल का शोक दूर हो सकता है और न उदास की उदासी कम हो सकती है। बहुमूल्य से बहुमूल्य मोती रखते हुए भी आदमी दुःख दर्द और क्लेश से छुट्टी नहीं पाता। महमूद ग़ज़नवी के पास क्या मोतियों की कमी थी और ज़ार रूस के पास क्या मोती कम हैं। लेकिन क्या कोई कह सकता है कि मोतियों के कारण महमूद को सुख मिला या ज़ार इन मोतियों के कारण सुखी है सच तो यह है कि यदि— तमाम दुनियाँ की दौलत, सोना, चाँदी, हीरा, मोती, जवाहरात आदि इकट्ठे कर लिये जावें तब भी इनका मूल्य इन शब्दों और इन विचारों के मूल्यसे कहीं कम हैं। यह वह अमृत है जिसको तलाश में मोतियों वाला सिकंदर आज़म मर गया। यह वह संजीवनी बूटी है जिसको पाने के लिये दुनियाँ के बड़े से बड़े राजे महराजे तड़पते हुए मर गये। यह वह अमृत है जिसको पानकर के मनुष्य मरने जीने के दुःख से छूट जाता है और जिसको प्राप्त करके मोती मिट्टी दीख पड़ते हैं। यह वह नुस्खा है जिससे दुःख, बीमार की बीमारी, बेचैनी और व्याकुल अशान्त आत्मा की व्याकुलता और अशान्ति इस तरह भाग जाती है जैसे मनुष्य की बास पाकर जंगली हिरन भाग जाता है।

यही वह फिलासफी (ज्ञान) है जो मनुष्य के लिये इस दुःख सागर संसार को शान्ति सरोवर और सुख का धाम बना देती है जो इसको सब बंधनों से छुड़ाकर केवल एक प्रभु के कमल चरण पद को प्राप्त करती है जहाँ पहुँचकर जीवात्मा आनन्द ही आनन्द में विश्राम करता है।

पाठक! क्या आप समझे। यह वह शिक्षा है जो हम को बताती है कि ड्यूटी (कर्त्तव्य) के ही लिये करना चाहिये। यह वह शीशा है जो हमको धर्म का सच्चा स्वरूप दिखाता है और समझता है कि धर्म करने के वास्ते और कोई गरज होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त वह धर्म है या ईश्वराज्ञा है या उस परमात्मा का नियम है जिसके नियमों में सर्वशक्तिमान् होने पर भी तमाम आत्माओं को पूर्ण को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है।

हे आर्य सन्तान! क्या आप इस गम्भीर युक्ति का अनुभव कर सकते हैं? क्या दासत्व की दृढ़ जंजीरों ने, क्या पेट की चिन्ता ने, क्या प्रतिष्ठा के झूठे विचार ने, क्या लक्षशून्य वैराग और झूठे त्याग के धोखा देने वाली फिलासफी ने क्या जीविका की चिंता में दत्तचित्त हुए, सिर्फ रोटी और रुपयों को ही ईश्वर बताने वाली शिक्षा ने, क्या किंचित् मात्र द्रव्य के बदले में प्राप्त की हुई विद्या ने, क्या मिथ्या विश्वास ने, आपके मन और बुद्धि को इस योग्य छोड़ा है कि आप इस परम सत्य को, सारे संसार की फिलासफी के ज़ौहर को, इस असल तत्व को समझ कर अपने जीवन का तावीज़ बना सकें? यदि श्रीकृष्ण महाराज फिर जन्म लेवें और अपनी मीठी व सुरीली बंसी से उस आनंद मय राग को फिर अलापें और सब आर्य्य संतान को बतलावें कि वह धर्मपथ से च्युत होकर कहाँ जा पहुंची है। यदि बूढ़ी भारत जननी दस पुत्र इस तरह के उत्पन्न करे जो धर्म के इस मान चित्र को सामने रखकर धर्म की सीढ़ी पर चढ़ने का प्रयत्न कर और इस सीढ़ी पर चढ़ने के धुन में न अमीरी की परवाह न गरीबी की, न मित्र की परवाह करें न शत्रु की, न जिन्दगी की परवाह करें और न मौत की, उनका विश्वास ऐसा दृढ़ हो, उनकी श्रद्धा ऐसी पक्की हो, उनका हृदय ऐसा दृढ़ हो, उनकी बुद्धि ऐसी प्रबल हो कि वे जिस चीज को

अपना धर्म समझलें फिर उसी के हो रहें। न सुख दुःख की परवाह करें, न आराम व कष्ट की, न दुःख और सुख का ख्याल करें, न सफलता और असफलता का विचार करें।

क्या वास्तव में इसी प्रकार के मनुष्यों का अभाव नहीं है जिसके कारण सारा देश दुःखी है और नित्य नई आपत्तियों और क्लेशों का सामना है। सारे देश में देश भक्ति, जाति प्रेम और धर्म प्रचार का हल्ला मचा हुआ है तो भी सारे देश में एक आदमी भी ऐसा दिखाई नहीं पड़ता जिसने देश भक्ति को, जाति प्रेम को और धर्म प्रचार को अपना मुख्य कर्त्तव्य बनाया हो, किन्तु क्या सम्भव था कि इतने हल्ला गुल्ला होने पर भी धर्म अवस्था इस देश में एक इञ्च भी उन्नत न होती और इस देश का दुख निवारण न होता।

यह ठीक है कि धर्म की चर्चा तो बहुत कुछ है। वाद विवाद भी बहुत होता है। व्याख्यान और उपदेश भी बहुत होते हैं, चंदे भी खूब दिये जाते हैं। किंतु कमी है तो यह है कि धर्म परायण जीवन नहीं है और धर्म परायण हुए बिना धर्म पास ही नहीं फटकता, धर्म तो कभी उन लोगों के पास भी नहीं जाता जो धर्मको अपना जीवन नहीं बनाते धर्म ऐसा ईर्षा करनेवाला है कि वह अपने सामने दूसरे को देख भी नहीं सकता वह तो अपने भक्त को अपना ही मतवाला बनाना चाहता है, उसको न खाने से रोकता है, न पीने से, न भोगने, न द्रव्य संचय करने से, न संतान पैदा करने से, न स्त्री रखने से वह सिर्फ यह चाहता है कि जो कुछ करो मेरे लिये करो मेरे नाम पर करो, मेरी खातिर करो, अपने भक्त से यह नहीं चाहता, कि उसका भक्त किसी से प्रेम न करे, वह देश की सेवा न करे, वह जाति की सेवा न करे, वह लोगों की सहायता न करे वह तो कहता है चाहे जितना प्रेम करो परन्तु जिस

चीज से प्रेम करो इस लिए करो कि तुम्हारा वह प्रेम मेरे नाम पर हो, मेरी खातिर हो।

धर्म अपने साम्राज्य में किसी को साझीदार नहीं बनाता और न अपने राज्य में किसी दूसरे को अपने बराबर का आसन देता है। तात्पर्य्य यह है कि वह स्वयं सर्व शक्तिमान होना चाहता है। किसी का संग उसे किसी प्रकार स्वीकार नहीं और न उसको यह सहन है कि उसके भक्त को उसकी आज्ञा-पालन में जरा भी संकोच हो। अस्तु धार्मिक वही हो सकता है जो धर्म की आज्ञा पालन में न सिरकी न पैर की, न तन की, और न धन की बरबादी करे या श्री कृष्ण महाराज की आज्ञा-नुसार जो खाता है तो इस लिए कि उसकी आज्ञा है, पीता है तो इसलिए कि उसकी आज्ञा है, दान देता है तो इस लिए कि उसकी इच्छा है, यज्ञ करता है तो इस लिए कि इसमें उसकी प्रसन्नता है ऐसा पुरुष धर्म परायण हो सकता है और ऐसा पुरुष ही दूसरों को धर्म परायण होने की शिक्षा दे सकता है। खेद है कि इस देश में न अब धर्म है और न कोई धर्म परायण है और इसी वास्ते यह अभागा देश और इस देश के रहने वाले तरह तरह की आपत्तियों में फँसते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छानुसार मनमाना स्वरूप धर्म का बना लेता है और उस अपनी बनाई हुई तसवीर की पूजा से मुक्ति पाने की इच्छा करता है। केवल इतना ही नहीं करता औरों को भी उस प्रतिमा की ओर आकर्षित करता है और यही पुकारता है कि "मेरे कथन पर जो संदेह करे वह काफिर है।" परंतु यदि प्राचीन समय के धर्म परायण लोगों की साक्षी देखें तो धर्म वेदों से मिलता है। वेद इस समय बहुत कठिन हैं क्योंकि इनके अर्थों का द्वार बंद है और इस महान-पवित्र विषय में बुद्धिहीन तथा संकीर्ण हृदय वाले मनुष्य की पहुँच ही नहीं है। हम लोग तो

उस महान किवाड़ की कुण्डी भी नहीं खोल सकते फिर इसमें बैठकर उसका रस आस्वादन बहुत दूर है।

प्रश्न—तो क्या हमारा रोग असाध्य है और इसकी कोई औषधि ही नहीं ?

उत्तर—इसके अतिरिक्त और कोई औषधि नहीं कि हम धर्म के अंगों के तत्व का खोज करें जो कि धर्म के पार्श्ववर्ती हैं

प्रश्न—वह क्या है ?

उत्तर—देखो भगवद्गीता अध्याय १६ के श्लोक १. २, ३

(१) अभय (सिवाय परमेश्वर के और किसी से न डरना) (२) मन की शुद्धि (३) बुद्धि योग में स्थिरता (४) दान (५) दम-(यानी अपनी इन्द्रियों को बश में करना) (६) यज्ञ (धार्मिक कर्म) (७) स्वाध्याय (शास्त्रों का पठन पाठन) (८) तप (९) अहिंसा (धर्म के विरुद्ध किसी को हानि न पहुंचाना) । (१०) सत्य (११) क्रोध दमन (१२) त्याग (१३) शान्ति वीरता (१५) दृढ़ता (१६) क्षमा ।

हमारा यह कर्तव्य होना चाहिये कि उस दरबार में जाने के लिये इन धर्म के निकटवर्ती लोगों से सहायता पाने की प्रार्थना करें और उचित मार्ग से उनकी प्रसन्नता प्राप्त करके उनके पूरे कृपा पात्र बनें।

धर्म हेतु धर्म करना हर एक जीवात्मा का लक्षण है इस लक्ष को प्राप्त करने लिये बहुत से रास्ते तय करना आवश्यक है। इन रास्तों में से किसी एक रास्ता को अपने जीवन का उद्देश बनाना ही प्रत्येक पुरुष का कर्तव्य है इस कर्तव्य को जिसने समझ लिया मानो कि वह सीधे रास्ते पर पड़ गया फिर उसको उचित है कि वह अपनी प्रकृति की सारी शक्ति रास्ते के पार करने में खर्च करे और किसी दूसरे विचार को अपने रास्ते में बाधक न होने दे।

यूरप का एक राजनैतिक महापुरुष लिखता है कि निष्फ-लता, हतोत्साह, और निराशा और इसी तरह की दूसरी आ-पत्तियों ने एक समय मुझे ऐसा घबरा दिया कि मेरे मन में यह संदेह पैदा हो गया कि मैं गलती पर हूँ और मैंने स्वेच्छा व स्वबुद्धि ही से यह कार्य आरम्भ किया है जिसके परिणाम में सैकड़ों जीवों के रक्तपात का अपराधी बना। अस्तु इस विचार ने मुझे ऐसा घेरा कि मैं पागलों का सा काम करने लगा। जीवन कष्टमय हो गया। कई बार आत्महत्या की इच्छा की। रातें बेचैनी में बीतने लगीं यहां तक कि एक दिन प्रातः काल सूर्य की रोशनी के साथ ही ज्ञान की प्रभा भी दृष्टिगोचर हुई। सोचते सोचते मैंने यह निश्चय किया कि मैंने जो काम आरम्भ किया है वह तो आत्मश्लाघा या स्वार्थ बुद्धि का परिणाम नहीं है परन्तु यह दशा जो मैंने अपने ऊपर मान रक्खी है यह मेरी स्वबुद्धि का परिणाम है। मुझे क्या अधि-कार है कि मैं कर्तव्य पालन में केवल हतोत्साह और निराशा के सामने आने के कारण से यह फल निकालूं कि मैं गलत रास्ते पर हूँ। अस्तु मैंने अपनी परीक्षा करना आरंभ किया और सोचने लगा कि मैंने मनुष्य जीवन को क्या समझा है। समस्त ज्ञान विज्ञानत्व इसी पर निर्भर है कि मनुष्य जीवन का उद्देश क्या है?

भारतवर्ष के प्राचीन धर्म के ध्यान को ही जीवन का उद्देश माना है जिसका फल यह हुआ कि हिन्दू मात्र ऐसे सोये कि फिर किसी काम के योग्य न रहे और आर्य संतान अपने ईश्वर में लीन हो गई।

दूसरी तरफ ईसाई मत ने जीवन को बोझ समझा और यह निश्चय किया कि संसार के सब दुःख और चिन्ताओं को संतोष तथा प्रसन्नता से सहन करना चाहिये। और उनसे

बचने का उद्योग नहीं करना चाहिये। उन्होंने इस विचार से संसार को दुःखमय माना है। इनके नियमानुसार मुक्ति इसी से मिल सकती है कि सारे संसार की चीज़ों को तुच्छ दृष्टि से देखें और उनकी कुछ परवाह न करें।

अठारवीं सदी के मेटीरियल (प्राकृतिक) फिलासिफी ने जीवन को सुख और आनन्द का स्थान मान लिया है जिसका परिणाम यह हुआ कि भिन्न २ स्वरूपों में मनुष्यों में स्वार्थ बुद्धि का विचार इतना बलवान हो गया कि नियमों की परवाह ही न रही। प्रत्येक पुरुष अपने ही लाभ और हानि के ध्यान में निमग्न है।

सिद्धान्त और सच्चाई के लिये बलिदान करने का विचार इतना कमजोर हो गया कि लोग थोड़ी तकलीफ या थोड़ी सी असफलता से अपने सिद्धान्तों को पैरों तले कुचल डालते हैं और अपनी इच्छा को बदल कर उस काम को छोड़ देते हैं जिसको उन्होंने किसी उद्देशपालन के लिये आरम्भ किया था।

मैंने सोचा कि यद्यपि मुझको जीवन की इस फिलासफी से नफरत है और मेरा दिल उन विचारों पर आरूढ़ नहीं है तब भी मेरी आत्मा इन्हीं विचारों का शिकार हो रही है।

मैं जिन्दगी के उद्देश को अपनी जिन्दगी के आराम कष्ट से सिद्धि व असिद्धि से लोगों की प्रीति व अप्रीति व योग और वियोग तक विचारों से जांचता हूँ।

दुःख है कि अपने ही कर्म से मैं अपने इस विश्वास को जवाब दे बैठा कि मनुष्य शरीर क्षणिक है और भिन्न २ जीवनों में इस प्रकार उन्नति करता है जैसे कि कोई आदमी इस विश्वास से एक बहुत ऊँचे पहाड़ पर चढ़ता जावे कि ऊपर ईश्वर बैठा है और वहां पहुँचने पर उसके दर्शन मिलेंगे।

आत्मा के भिन्न २ जीवन तो वास्तव में एक ही लड़ी के दाने हैं जिनमें आत्मा शनैः २ प्रकाश पाता हुआ उन्नति करता है।

प्रत्येक जीवन का एक न एक लक्ष्य होता है अन्यथा जीवन का अर्थ ही क्या होगा। इसके अतिरिक्त जो लोग जीवन शब्द का दूसरा अर्थ लगाते हैं वह गलत रास्ते पर हैं। वह जीवन ही क्या जिसका कोई लक्ष्य वा उद्देश्य न हो। अतएव जीवन का एक मुख्य उद्देश्य नियत करके फिर वह सीखता है कि इस प्रधान लक्ष्य के अन्तर्गत प्रत्येक जीवन की कोई वासना होती है जो इसकी विशेष अवस्था पर निर्भर होती है। परन्तु जिसका स्वभाव भी उसी लक्ष की प्राप्ती है जो प्रत्येक जीवात्मा का अंतिम लक्ष्य है। कुछ मनुष्यों के जीवन का अभिप्राय यह होगा कि वह अपने निकटस्थ के लोगों के आचार व व्यवहार को सुधारें यानी अपनी जाति की शिक्षा को सुधारें।

जो लोग इनसे भी अधिक उन्नति शील हैं वे अपनी जाति में जातीयता के विचार को फैलाने की चेष्टा करें या धार्मिक या राजनैतिक उन्नति का बीड़ा उठावें। येन केन प्रकारेण यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि जीवन एक मिशन है और (कर्त्तव्य) या उसके धर्म उसके लिये अच्छे से अच्छा नियम हैं प्रत्येक पुरुष की उन्नति इसपर निर्भर है कि वह अपने जीवन का कर्त्तव्य समझ कर उसके अनुसार ही अपना कर्त्तव्य पालन करे क्योंकि इसी कर्त्तव्य को पालन करने या न करने पर यह बात भी निर्भर होगी कि इस जीवन के अन्त होने पर फिर उसको किस प्रकार का जीवन मिले। क्योंकि प्रत्येक पुरुष को स्वयं अधिकार है कि वह अपने कर्मों द्वारा अपने भाग्य का निर्णय करे। हम में से प्रत्येक पुरुष का यही कर्तव्य है कि अपनी आत्मा को साफ और पवित्र बनाकर उसी को अपना ध्यान मन्दिर बनावें। स्वार्थता से उसे खाली करके बहुत

गम्भीर विचार से अपने जीवन का उद्देश्य नियत करें। और अपनी अवस्था के अनुभव से यह भी निश्चय करें कि उसके देश में या उसकी जाति में किस बात की विशेष आवश्यकता को वह अपनी अवस्था व योग्यता के अनुसार किस तरह और कैसे पूरा कर सकता है। सुतरां इस तरह से अपना उद्देश्य बना कर फिर उसको पूर्ण करने में लग जावे और जन्म भर उस काम से न हटे चाहे दुःख हो या सुख, कामयाबी हो या उस को दूसरों से सहायता मिले या न मिले।

यदि इस यूरोपियन महापुरुष के हाथ में गीता होती तो वह आर्यों के धर्म के विषय में न तो गलत विचार ही निश्चय करता और न खुद उसको जीवनके सदाचार की फिलासफी नियत करने में इतनी दिक्कत होती जितनी कि हुई। उसके जन्म के सहस्रों वर्ष पूर्व एक आर्य्य महापुरुष ने ज्यों की त्यों यही शिक्षा दी थी जिसका प्रकाश इसपर हुआ। उसके लिये तो यह प्रकाश निरा अचानक और बेजोड़ था। परन्तु प्राचीन आर्य साहित्य में यह शिक्षा एक श्रेणी की खण्ड मात्र की और यही वैदिक धर्म का बुनियादी पत्थर है। यही महापुरुष अपने इस लेख में एक यूरोपियन कविता का हवाला देता है, जिसका अर्थ यह है।

"फौलाद" हमारी आंखों के सामने डरावनी सूरत में चमकता है और रास्ते में क़दम २ पर आपत्ति हमारी बाट देखती है मगर तो भी लार्ड कहता है बढ़े चलो! बढ़े चलो! दम न लो। हम पूछते हैं कि हुजूर यह तो बतावें कि हम किधर जा रहे हैं? जवाब मिलता है कि अब लोगों को मरना तो है ही (फिर डरना क्या) आगे बढ़ो और मरो। जब लोगों दुःख तो उठाना ही है (फिर डरना क्या) आगे बढ़ो और दुःख उठाओ।

पाठकों आपने भगवद्गीता और महाभारत को पढ़ा और सुना होगा, क्या यही उपदेश महाराज कृष्ण का नहीं है कि हे

अर्जुन, तुम याद रक्खो शरीरधारी मनुष्य मात्र को मरना तो अवश्य ही है फिर मरने और मारने से क्या डरना उठो और युद्ध करो, न मरने से डरो और न मारने से जो तुम्हारा धर्म है उसका पालन करो।

सच तो यह है कि सच्चा धार्मिक वही पुरुष हो सकता है जो इस तरह अपने धर्म के लिए न मरने से डरे और न मारने से। जिसकी दृष्टि में इस धर्म के सामने सांसारिक सब बातें तुच्छ हैं।

हे मेरे स्वजातीय भाइयों अपने हृदय पर हाथ रखकर सोचो कि इस नियम के अनुसार हमारी जाति में कितने धर्मात्मा हैं और कितने धर्मात्मा बनने के इच्छुक हैं।

क्या आजकल हमारा और हमारे जाति का धर्म आराम ही धर्म नहीं है? हममें से कितने लोग हैं जो अपने कर्त्तव्य और अपने धर्म के हेतु सब तरह के झंझट और दुःख उठाने के लिए तैयार हैं। क्या सैकड़ों और हज़ारों नहीं नहीं लाखों हिन्दू हरसाल पैसों, रुपयों, औरतों, उहदों, इत्यादि नाचीज़ द्रव्य के लिए अपना धर्म बेच नहीं देते? क्या हम में से कोई भी ईमानदारी से यह कह सकता है कि मैं अपने धर्म की खातिर हर तरह का दुःख उठाने को तैयार हूँ। हा अफसोस! इस देश में न धर्म रहा और न धार्मिक। केवल ज़बानी जमा खर्ची रह गई—हमारा धर्म हमारी देशभक्ति, हमारा स्वजातीय प्रेम, हमारा उपकारी जीवन केवल खाली लिफाफे की तरह है। अन्दर न उद्देश्य के नोट हैं न सच्ची इच्छाओं की चिट्ठियां, सम्भव है कोई महान पुरुष अपनी जीवनचर्या से हमें धर्म का सच्चा लक्ष्य बतला दे और उस भूली हुई जाति को हाथ पकड़ कर सीधे रास्ते पर लगा दे।

* समाप्त *